समता के स्वर-४

अपने को समझें

(तृतीय पुष्प)

सम्पादक

शान्ति चन्द्र मेहता

प्रकाशक

श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ

समता भवन, बीकानेर (राज.)

ॐ

□

प्रथम सस्करण २१०० प्रतिया १९९८ ई , वि स २०५५, वीर स २५२५

□

सम्पादक

शान्ति चन्द्र मेहता

'महता सदन' ए-४ कुमानगर चित्तौडगढ (राज)

□

प्रकाशक

श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन सघ

बीकानेर-३३४००५

□

अर्थ सहयोगी

१ मूलचन्द, प्रकाशचन्द सुन्दरलाल सुराणा, नोखा

२ सोहनलाल बैद नोखा

□

मूल्य २२/-

रियायती मूल्य १२/-

□

मुद्रक

अमित कम्प्यूटर्स एण्ड प्रिन्टर्स

सिटी डिस्पेंसरी के पास भुजिया बाजार बीकानर

प्रकाशकीय

अपने को समझें का तृतीय पुष्प साधकों स्वाध्यायियों एव आत्मलक्षी पाठकों के हाथों में प्रस्तुत करते हुए असीम प्रसन्नता की अनुभूति हो रही है। इसमें हुक्मेश सघ के अष्टम पट्टधर समता विभूति अध्यात्म योगी समीक्षण ध्यान प्रणेता आचार्य श्री नानेश के नोखा वर्षावास (वि स 2033) में प्रदत्त पन्द्रह प्रवचन सग्रहीत हैं जो स्व-दर्शन की दृष्टि जाग्रत कर आत्म निरीक्षण व आत्म-समीक्षण की भावना को सचरित करने में समर्थ व सक्षम हैं। जीवन रूपान्तरण करने वाले इन प्रवचनों में आचार्य प्रवर का चिन्तन–गाभीर्य तलस्पर्शी दार्शनिक अध्ययन एव मनोवैज्ञानिक विश्लेषण स्पष्टत परिलक्षित है। आपने व्यक्तित्व निर्माण हेतु चिन्तन को नव आयाम दिया है वह है विचारों की निर्मलता भाव विशुद्धि व परिष्करण के क्रमिक विकास द्वारा आत्म-निरीक्षण की ओर बढ़ना। यही है वीतरागता आत्म-रमण ओर चेतना का जागरण। अन्य शब्दों में यही है अध्यात्म की साधना और मुक्ति की आराधना।

जैसा कि सुज्ञात है– व्यावहारिक जीवन में हम किसी व्यक्ति के साथ वर्षो तक रह लेते हैं– जी लेते हैं फिर भी उसे पहचान नहीं पाते। यही स्थिति स्वय अपने साथ है हम बाह्य जगत से जुडे रहते हैं पर अन्तर्जगत् की चेतना से दूर होते जाते हैं। इसी को दृष्टिगत रखकर आचार्य देव ने अध्यात्म के प्रति जागरूक रहने का सन्देश इन प्रवचनों के माध्यम से दिया है। आवश्यकता है कि हम बाह्य

स्थूल शरीर मन और बुद्धि से ऊपर उठकर अतीन्द्रिय चेतना को विकसित करने हेतु आलस्य प्रमाद और मूर्च्छा के वलय को तोडकर आन्तरिक सीमा में प्रवेश करें और अपने को समझें।

इस भाग में सकलित प्रवचन हैं –

चार मे एक और एक में चार दुर्लभ सत समागम का सत्प्रभाव मद में घेर्‌यो रे अघ केम करे ? आपत्तियों के सामने अटल आस्था आज्ञा के प्रति अर्पणा के भाव आत्मा बाहर से अन्दर–अन्दर से परम अपने ही घर के खजाने की खोज अन्तर्मुखी वृत्ति और निर्लिप्तता आत्म लक्ष्मी की ऋद्धि आत्म दीप की दीप्ति। स्पष्ट ही इन प्रवचनों का सार है कि 'दुल्लहा माणुस भवे' अर्थात् दुर्लभ मनुष्यभव में हम अहभाव मदान्धता व कुतर्क को त्याग कर सरल समर्पित व आस्थावान रहकर सम्यगदर्शन/सुतर्क से साक्षात्कार करें। सत समागम से स्वय के दोष दर्शन की दृष्टि प्राप्त करें आत्मानन्द की अनुभूति हेतु अन्तर्मुखी बनें और प्रतिसलीनता के माध्यम से आत्म दीप को प्रज्वलित करें। दृष्टि बदलते ही सृष्टि बदल जाती है अत स्वय को समझें जानें और पहचानें। तभी हम वास्तविक सुख प्राप्त करने में समर्थ हो सकेंगे।

सकलित प्रवचनों में गुफित आचार्य श्री जी के भावों को यथावत रखते हुए सम्पादकीय स्पर्श द्वारा मार्मिक बोधगम्य व सरल/सरस रूप में प्रस्तुति दी है श्रीमान शान्तिचन्द्र जी मेहता ने जो हार्दिक आभार के अधिकारी हैं। साथ ही श्री उदय नागोरी द्वारा इसके प्रूफ सशोधन में प्रदत्त सहयोग हेतु भी आभार।

नोखा के सुराणा परिवार के धर्मनिष्ठ सदस्यों एव सघनिष्ठ श्री सोहनलाल जी बैद के अर्थ सौजन्य से इस कृति का प्रकाशन किया गया है अत वे साधुवाद के पात्र हैं।

विश्वास है कि इन प्रवचनों में निहित आत्म चेतना के मूल स्वर और जीवन मूल्यों को आत्मसात कर श्रद्धालुजन साधक वर्ग व स्वाध्यायी बन्धु आत्म दर्शन आत्म-साक्षात्कार व अन्तरावलोकन के मार्ग में अग्रसर होंगे व भावशुद्धि कर चेतना का ऊर्ध्वारोहण करने की दिशा में पथारूढ होंगे।

भवदीय

गुमानमल चोरड़िया	सागरमल चपलोत	इन्द्रचन्द बैद
अध्यक्ष/ सयोजक	महामन्त्री	सह–सयोजक

भवरलाल कोठारी   चम्पालाल डागा

उपाध्यक्ष

सरदारमल काकरिया	केशरीचन्द सेठिया	मोहनलाल मूथा
नेमीचन्द तातेड	कमल सिपानी	सायरचन्द छल्लानी

डॉ सजीव भानावत

(सदस्यगण साहित्य समिति श्री अ भा साधुमार्गी जैन सघ)

अर्थ सहयोगी परिचय

प्रस्तुत कृति अपने को समझें तृतीय पुष्प दो सघनिष्ठ परिवारों के अर्थ सौजन्य से प्रकाशित हुई है। प्रथम हैं सुराणा परिवार के तीन सदस्य जिन्होंने अपने पितृश्री दृढ़धर्मी श्रद्धानिष्ठ सुश्रावक स्व श्री दीपचन्द जी सुराणा की स्मृति में अर्थ सहयोग प्रदान किया है। ये हैं-- सर्व श्री मूलचन्द जी प्रकाशचद जी एव सुन्दरलाल जी।

आपका जन्म नोखागाव में हुआ। आपने कुशलता तथा न्याय-नीति युक्त जीवन यापन करते हुये अल्पकाल में लक्ष्मी ही अर्जित नहीं की अपितु उसका उन्मुक्त हृदय से सदुपयोग भी किया। आपका जीवन त्याग-तपमय था। आप प्रतिदिन एक बार ही भोजन करते थे।

नोखागाव (बीकानेर) में लाईट कुए की व्यवस्था एवं धर्मोपासना हेतु श्रीगणेश भवन' का निर्माण आपके सद्प्रयासों का ही मूर्तरूप है। आप नोखागांव के प्रमुख श्रावक थे तथा सन्त सतियाजी की समर्पित भावना से सेवा करते थे।

अपकी धर्मपत्नी श्रीमती लालीदेयी धर्मनिष्ठ सुश्राविका हैं जिनके वर्षो से आजीवन चौविहार हरी का त्याग (2 का आगार) है। प्रतिदिन सामायिक एव अन्य स्फुट त्याग-प्रत्याख्यान आदि चलते रहते हैं और सरलता एव सादगी जिनके जीवन का अग है।

आपके चार पुत्रों में द्वितीय पुत्र श्री इन्द्रचद जी का 39 वर्ष की आयु में स्वर्गवास होना पूरे परिवार के लिए वज्रपात था। वर्तमान में तीनों पुत्रों सहित पूरा परिवार आचार्य भगवन् एव युवाचार्य श्री रामलालजी म सा के प्रति पूर्ण समर्पित है। गुरुनिष्ठा आपका व्रत है।

इस कृति में आचार्य देव द्वारा नोखा वर्षावास (स 2033) में प्रदत्त 15 प्रवचन सकलत हैं। पूर्ण विश्वास है कि ये अनमोल प्रवचन आपके आत्मोत्थान में सहायक होंगे। मानव अपने को समझे और स्वय से जुडे यही इस ग्रथ का केन्द्रीय सदेश है। आचार्य भगवन् के सूत्र रूप शब्दों को जीवन में उतार कर भव्य प्राणी अपना कल्याण करें यही शुभ कामना है।

अर्थ सहभागी सुराणा बन्धुओं जिनका पता निम्नांकित है के प्रति आभार--

जैन सुपारी सेन्टर

किराणा ओली मस्कासाथ

इतवारी नागपुर--440002

फोन 761865 767466

इन्हीं के साथ अर्थ सहयोग में उदारमना श्री सोहनलालजी बैद नोखा मण्डी ने सहभागिता प्रदान की है।

श्री हजारीमल जी बैद एव श्रीमती हुलासी बाई के आत्मज श्री सोहनलाल जी बैद धर्मनिष्ठ सुश्रावक हैं। आपका जन्म वि स 1986 आषाढ सुदी 8 को नोखामण्डी (बीकानेर) के पार्श्ववर्ती गाव 'कक्कू' मे हुआ। कालान्तर में आप नोखामण्डी आकर बस गये। श्री बैद के अग्रज श्री मोहनलाल जी एव अनुज सुगनचन्द जी भी धर्मपरायण श्रावक हैं।

आप बचपन से ही प्रतिदिन सामायिक करत हैं एव आचार्य श्री नानेश के नोखामण्डी चातुर्मास में प्रतिदिन पॉच सामायिक आजीवन चौविहार एव शीलव्रत के नियम ग्रहण कर लिये। वर्षो से पॉचों तिथि हरी त्याग के अतिरिक्त अनेक त्याग-प्रत्याख्यान के धारक श्री बैद जी ने मात्र 50 वर्ष की आयु में व्यापार से निवृत्ति ले ली जो धन के पीछे समग्र जीवन को होम देने वाले लोगों के लिए एक अनुपम व प्रेरणास्पद उदाहरण है। उदारता आपके जीवन का सहज गुण है।

आपकी धर्मपत्नी श्रीमती सुरजादेवी भी धर्मपरायण आदर्श श्रमणोपासिका हैं। आप दोनों के सद्सस्कार आपके सुपुत्रद्वय श्री शातिलाल जी राजेन्द्रप्रसाद जी तथा पुत्रियों– श्रीमती पुष्पा मंजू, सरोज एव सुशीला में भी स्पष्टत देखे जा सकते हैं। श्री राजेन्द्रप्रसाद जी सामाजिक धार्मिक गतिविधियो में प्रमुखता से भाग लेते हैं।

आपका पूरा परिवार आचार्य श्री एव युवाचार्य श्री के प्रति पूर्ण समर्पित एव निष्ठावान है।

प्रस्तुत पुस्तक में अर्थ सहभागिता प्रदान कर श्री बैद ने आचार्य श्री नानेश की अमृत-वाणी को जन-जन तक पहुँचाने मे अमूल्य सहयोग दिया है। अत हम उनके आभारी हैं।

आपके निवास स्थान का पता है–

'नानेश छाया'
सघ बिल्डिग के पास बडकस चौक
महाल नागपुर–440002
फोन 720544 720771 724148

–धर्मचन्द पारख

अनुक्रमणिका

1	चार में एक और एक में चार दुर्लभ	9
2.	सन्त समागम का सत्प्रभाव	20
3	निपुण बुद्धि की आवश्यकता	28
4	दर्शन की सच्ची अभिलाषा	38
5	मद में घेर्‌यो रे अध केम करे ?	47
6	तर्क के साथ 'सु' व 'कु' का अन्तर	55
7	आपत्तियों के सामने अटल आस्था चाहिये !	62
8	अमृत योग की साधना या विषयोग की ?	72
9	आज्ञा के प्रति अर्पण की भावना	81
10	आत्मा बाहर से अन्दर अन्दर से परम	89
11	अपने ही घर के खजाने की खोज	98
12.	अन्तर्मुखी वृत्ति और निर्लिप्तता	107
13	सगति वृत्ति एव भविष्य दृष्टि	116
14	आत्म लक्ष्मी की ऋद्धि आत्म दीप की दीप्ति	128
15	विविध रूपिणी बुद्धि की एकरूपता	137

1

चार मे एक और एक मे चार दुर्लभ

समव देव ते धुर सेवो सवे रे
चरमावर्त हो चरण करण तथा रे
मव परिणति परिपाक।
दोष टले वरि दृष्टि खुले मली रे
प्राप्ति प्रवचन वाक ।।

एक भव्य आत्मा को समवनाथ के चरणों में असमव को मी समव बनाने की मावना लेकर पहुँचना है। वह भव्य आत्मा जिसको इस जन्म में मानव जीवन मिला है उसको अपनी इस उपलब्धि पर विचार करना है तथा इस लक्ष्य पर गमीरतापूर्वक विचार करना है कि वह इस विशिष्ट उपलब्धि का विशिष्ट उपयोग कैसे कर पायगी ?

मनुष्य जीवन ससार के सभी जीवनों में सर्वश्रेष्ठ जीवन है और यही एक मात्र ऐसा जीवन है जिसमें यदि ज्ञान श्रद्धा सयम और पुरुषार्थ का सम्यक सयोग बिठा ले तो वह मनुष्य अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। इसी दृष्टि से चारों गतियों में एक मनुष्य गति और एक मनुष्य गति में ज्ञान श्रद्धा आदि चारों बातों का सयोग परम दुर्लम बताया गया है । चार में एक और एक में चार– ये दुर्लम है तथा दुर्लम को सुलम बना लेना– यही समवनाथ मगवान् की प्रार्थना का सु–परिणाम होगा । उनकी प्रार्थना शक्ति की इसी विशिष्टता पर भव्यजन मावनाशील बनता है कि वह उस शक्ति को लेकर असमव को भी समव वना लेगा। मानव जीवन मिल गया है फिर दुर्लम को सुलम बनाने में शक्ति का नियोजन क्यों न हो ?

मुख्य चार योनियो मे
मानव योनि की दुर्लभता

नरक तिर्यच योनियों से मानव योनि श्रेष्ठतर है– यह तो सभी सहज में समझ जाते हैं लेकिन किसी को यह सुनकर आश्चर्य होगा कि देव योनि से भी यह मानव योनि श्रेष्ठतर है। इसका कारण है कि सासारिकता में रचे पचे मनुष्यों को भौतिक ऋद्धि सिद्धि ही मुख्य दिखाई देती है और उस दृष्टि से देवो को श्रेष्ठतम भौतिक ऋद्धि सिद्धि उपलब्ध होती है जिसकी मानव केवल कल्पना ही कर सकता है। यह दृष्टि दोष है। भौतिकता स्थूल साधन है जबकि आध्यात्मिक वह सूक्ष्म साधना है जिसके द्वारा आत्मा अपने सम्पूर्ण बन्धनों से मुक्त होकर मोक्ष की प्राप्ति कर सकती है। यह सूक्ष्म साधना देवो को उपलब्ध नहीं है। वहाँ भोग है त्याग नहीं है जबकि त्याग की सीढ़ी पर सबसे ऊपर पहुँचकर ही मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है और त्याग की उच्चतम प्रगति मानव जीवन में ही समव होती है।

देव योनि में रहने वाले देव आपको भौतिक सम्पन्नता से अधिक सुखी दिखाई दे सकते हैं-- सामान्य मनुष्यों की अपेक्षा कुछ ज्ञान की शक्ति भी उनमें अधिक होती है लेकिन सिर्फ ज्ञान और भौतिक सम्पन्नता से ही जीवन को सुखमय नहीं बना सकते हैं। ये दोनों प्राप्तियाँ जीवन को अव्रत में डालने वाली होती है– गतियो के आवर्त में घुमाने वाली होती हैं। आवर्त को भवर भी कहते हैं। ससार के प्रवाह में स्थान-स्थान पर भवर चलते रहते हैं जिनमें जीवन जब फसता है तो पता नहीं चलता कि उस भवर के चक्र में पड़कर जीवन की क्या गति विगति बन जाती है ? कारण भवर में फसकर उसमें से निकलना बड़ा ही कठिन हो जाता है। भवर मे गिरा हुआ फिर भवर में ही चक्कर काटता रहता है। इसी तरह ससार के भवरों में अनन्त छोटे बड़े प्राणी चक्कर काट रहे हैं– कई बार निकलने की इच्छा करते हुए भी पुरुषार्थहीन बने रहकर उससे बाहर नहीं निकल पा रहे हैं। विरली ही आत्माएँ अपने पुरुषार्थ का सत्प्रयोग करती हैं और उस भवर मे से बाहर निकलती हैं। भवर से बाहर निकलने के लिये पुरुषार्थ के सशक्त प्रयोग का सर्वश्रेष्ठ जीवन यही मानव जीवन होता है। इसी गुण के कारण ही सभी जीवनों में इस जीवन की श्रेष्ठता है तो इसी कारण मानव जीवन को दुर्लभ भी बताया गया है ।

आत्म शक्तियो के विकास का आदर्श क्षेत्र– मानव जीवन

यह आत्मा इस ससार रूपी भवर में अनादिकाल से चक्कर काट रही है कि उसको उसमें से निकालना ही दुष्वार हो रहा है। उसको इस भवर मे से निकालने का कोई साधन है तो यह मनुष्य तन ही है। देवों में भी यह क्षमता नहीं है। देव तो भौतिक सुखों का अनुभव करते हुए इस भवर में गहरे ही फसते हैं। लेकिन मानव यदि अपनी आत्म-शक्तियों का विकास करे और अपने जीवन को सही दिशा में लेकर चलने का प्रयास करे तो वह इस भवर से निकल सकता है। इसीलिये प्रभु महावीर का उद्‌बोधन है कि–

चत्तारि परमगाणि दुल्लहाणि जन्तुणो।
माणुसुत्त सुईसद्धा सजम्मिय वीरिय।।

ससार की कुल चार योनियों– नरक तिर्यच मनुष्य एव देव में मनुष्य योनि दुर्लभ है तो यह मनुष्य जीवन मिल जाने के बाद भी चार अगों की प्राप्ति दुर्लभ मानी गई है क्योंकि ये चार अग याने कि चार साधन प्राप्त हों तो फिर भवर में से निकलना कठिन नहीं रहे।

इसलिये सबसे पहले यह सकेत दिया है कि मनुष्य तन की उपलब्धि बड़ी कठिनाई से होती है। बहुत पुण्य का सचय होता है तब यह जीवन मिलता है। इससे शास्त्रकारों का तात्पर्य यह है कि अन्य प्राणियों की अपेक्षा मनुष्य जीवन अतिशय पुण्यवानी से प्राप्त होता है। किन्तु आज के मानव की बढ़ती हुई जनसख्या को देखकर बुद्धिवादी वर्ग के मस्तिष्क में एक प्रश्न खड़ा होता है कि शास्त्रकार मनुष्य जन्म को अतिशय पुण्यवानी का फल मानते हैं पर इस बेहद बढती हुई जनसख्या को देखें तो ऐसा लगता है कि मनुष्य तो बहुत साधारण तौर पर पैदा हो रहा है। जहॉं भारत की जनसख्या 33 करोड़ के बाद 40 करोड हुई और 50 करोड हो गई । फिर पाकिस्तान के रूप में देश का विभाजन हुआ उसके उपरान्त भी अब फिर भारत की जनसख्या 60 करोड़ तक पहुँच गई है। इसका कुछ आधार तो होना चाहिये कि इतनी जनसख्या कैसे बढी ? क्या इतनी पुण्यवानी अर्जित करके एक-एक मनुष्य का जन्म हो रहा है ? जबकि दूसरी तरफ मनुष्य के व्यवहार को देखते हैं तो उससे शका होती है कि वह पुन मनुष्य तन को पायगा या नहीं ?

आज के मनुष्य की कितनी घिनौनी प्रवृत्ति है किस प्रकार का उसका निकृष्ट जीवन है कैसे मलिन विचार वह रखता है– एक दूसरे को धोखा देने

की बात करता है तथा किस प्रकार वह लड़ने भिड़ने की कटुप्रवृत्तियों राग द्वेष की ज्वालाओं तथा विषमता की दवाइयों में उलझा हुआ है ? मानव जीवन की आज की विचित्र दशा दृष्टिगत हो रही है--इसको देखकर इसकी अतिशय पुण्यवानी की पृष्ठभूमि को पहिचान पाना अत्यन्त कठिन हो रहा है। यह मानव वैसा ही कर रहा है जैसा कि पशु करता है। मानव वृत्ति उन्नत बने वह तो नहीं हो रहा है बल्कि उसमें पशु वृत्ति भड़क रही है– ऐसा क्यों है ? यह सब क्यों हो रहा है कौन कर रहा है ? क्या मानव ही अपने जीवन वृक्ष की शाखाओं- उप शाखाओं को अपनी ही अज्ञान की कुल्हाड़ी से स्वय ही नहीं काट रहा है ?

वर्तमान मानव जीवन की पतनावस्था दयनीय है ।

जितना कुछ आज का मानव अपने आप को सभ्य सस्कारों में बढ़ा-चढ़ा मानता है भौतिक विज्ञान के सम्बन्ध में अत्यधिक उच्च स्तर की बात करता है उतना ही उसका आन्तरिक जीवन ठीक इसके विपरीत ज्ञात होता है। लोग कहते हैं कि वर्तमान युग में मानव ने कितनी ऊँची विकास की श्रेणी प्राप्त करली है कि वह आदिम मानव के मुकाबले में कितना अधिक विकसित हो गया है ? कहाँ अणु शक्ति की उपलब्धियों को प्राप्त कर लेने वाला आज का मानव और कहाँ आदि युग का मानव जो पत्थर से बने शस्त्रों से अपना काम चलाता था ? फिर आदिम मानव पशु पालन की ओर मुड़ा खेती करने लगा और व्यापार शुरू हुआ । तब ग्राम नगर बसने लगे और राजा महाराजाओं का समय आया। फिर उद्योग फैले विज्ञान पनपा तथा नये-नये आविष्कारों का जमाना आया। आज के मानव ने तो विज्ञान के वे वे आविष्कार किये हैं– वे वे घातक शस्त्र खोजे हैं कि सारी दुनिया में एक साथ महाविनाश मचाया जा सकता है। कहाँ तो जमीन पर रहते हुए पत्थर फैंकने का प्रसग और कहाँ आकाश मे उड़ते हुए अणुबम गिराने का प्रसग ? यह मानव का विकास है या पतन– उसकी मनुष्यता बढ़ी है या घटी है– यह देखने और समझने का विषय है।

यह और विचित्र बात है कि मानव ने जैसा भी किया इतना विकास कर लिया लेकिन पशु ने कोई विकास नहीं किया। पशु तो जैसा आदि युग से चल रहा था वैसा आज भी चल रहा है। न तो उसने शारीरिक दृष्टि से कोई विकास किया न ही मानसिक या बौद्धिक कला कुशलता की दृष्टि से उसमें कोई नयापन आया। उसके जीवन क्रम में कोई खास परिवर्तन नहीं दिखाई देता है।

यह कथन अपेक्षाकृत सही है कि मानव ने पशु की अपेक्षा तुलनात्मक दृष्टि से काफी विकास किया है– शारीरिक बौद्धिक कलाकौशल्य विज्ञान पद्धति आदि सभी दृष्टियों से। वैज्ञानिक प्रगति के कारण दुनिया छोटी हो गई है और लोग एकदम नजदीक-नजदीक आ गये हैं।

यह सब कुछ हुआ लेकिन मानव ने जीवनोत्थान की दृष्टि से कितना विकास किया– क्या आपने इसकी कमी समीक्षा की है ? उसके मन-मस्तिष्क में शान्ति का कितना प्रादुर्भाव हुआ ? वह ससार की तृष्णा से हटकर आत्म-सुख की ओर कितना आगे बढा ? यह समीक्षा जब निकालेगे तो वह बडी ही निराशाजनक प्रतीत होगी। पशु ने मनुष्य की तरह विकास नहीं किया तो मनुष्य की तरह उसने अपने जीवन में वितृष्णा और अप्राकृतिकता भी नहीं बढाई है। पशु अपनी प्राकृतिक व्यवस्था की ही लकीर में चलता है।

वर्तमान मानव ने भौतिक सुख सुविधाओं के क्षेत्र में कितनी ही प्रगति की हो किन्तु इन सुख सुविधाओ की चन्द लोगो के लिये सुलभता और बहुसख्या के लिये दुर्लभता होने के कारण मनुष्य मे जो उद्दाम लालसाएँ एव वितृष्णाएँ जागी है उन के कुप्रभाव से वह दयनीय पतनावस्था की ओर आगे से आगे कगार तक बढता ही जा रहा है। आज उसका जीवन विषमताओं से भरा है क्लेश पूर्ण है तथा विकृतियों से अशान्त बना हुआ है।

आन्तरिक शक्ति व शान्ति के अभाव मे दिशाहीन और गतिहीन मानव

भौतिक उपलब्धियों में मानव कितना ही ऊँचा क्यों न पहुँच जाय आन्तरिक शक्ति एव शान्ति के अभाव मे वह दिशाहीन और गतिहीन ही बना हुआ है। अमेरिका के राष्ट्रपति से पूछिये कि आप तो अति धनाढय देश के राष्ट्रपति हैं विज्ञान भी आपके चरण चूमता है आप के देशवासी मगलग्रह तक भी खोज तलाश कर रहे हैं तो फिर आपके तो हृदय में पूर्ण शान्ति का निवास है न ? यदि वे सच्चे दिल से बतायेगे तो यही कहेंगे कि मेरे समान दु खी और अशान्त अन्य कोई नहीं है। चाहे ऊपरी शान कितनी ही क्यों न हो-- लेकिन जब तक भीतरी जीवन उलझा हुआ रहता है तब तक न तो आन्तरिक शक्ति का विकास होता है और न ही आन्तरिक शान्ति मिलती है। ये दोनों नहीं है तो दिशा और गति भी नहीं है। वहाँ विकास की भावना का भी ह्रास होने लगता है।

दिशाहीन विकास नियन्त्रित विकास नहीं होने से सही विकास नहीं होता है और दिशाहीन विकास कब तक गतिशील बना रह सकता है ? नियन्त्रण के अभाव में बिना ब्रेक की गाड़ी कहीं न कहीं तो दुर्घटनाग्रस्त हो ही सकती है या ठप्प पड सकती है। मानव जीवन के लिये यह ब्रैक आत्मशक्ति का ही हो सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि मानव की सख्या की वृद्धि हुई विकास का कार्यक्रम चला लेकिन जीवन शक्ति का उसका कार्यक्रम अधूरा ही रहा। इस कारण उसकी शान्ति की तुलना पशु से ही की जाय तो पता चलेगा कि पशु जितने आराम से नींद ले सकता है उतने आराम से मनुष्य नहीं ले सकता है। पशु के पास मखमल के गद्दे तकिये नहीं है बगले और पखें नहीं है फिर भी पशु सुख की नींद सोता है जो साधन सम्पन्न मनुष्य को सुलभ नहीं है। यह क्या उसकी दिशाहीनता का प्रमाण नहीं है ?

आज मनुष्य कितने जजालों में डोल रहा है कि उसकी गति या तो विगति बन रही है या वह अगति बन रही है। क्या आज की अपनी दूषित वृत्तियो से वह पुन मानव जन्म प्राप्त कर सकेगा ? प्रश्न यह भी है कि आज मानव की जनसख्या जितनी बढ़ रही है क्या उतनी ही पुण्यवानी भी बढ रही है ? चिन्तक व्यक्ति यह अनुभव करता है कि मानव की पुण्यवानी आज व्यय के खाते में चल रही है। फिर जनसख्या कैसे बढ रही है ? या तो यह समझा जाय कि शास्त्रकारों ने ठीक नहीं कहा है या जनसख्या बढ़ने का कोई दूसरा कारण है। यह तो सुनिश्चित है कि शास्त्रकार गलत नहीं कह सकते । उन्होंने जो कुछ कहा अपनी आन्तरिक अनुभूति से कहा। केवलज्ञानी के रूप में उनके अन्तर्चक्षु इतने तीक्ष्ण होते हैं कि कोई भी वस्तु-स्वरूप उनकी दृष्टि से छिपा हुआ नहीं रहता है। वे सबको यथास्थान यथा कार्य पद्धति से देखते हैं और देख कर कहते हैं। इसलिये उनका कथन सत्य है कि अनन्त पुण्यवानी सचित होती है तभी मानव तन मिलता है। लेकिन वर्तमान मनुष्य ही पुण्यवानी का सचय कर सकता है– यह बात नहीं है अथवा सशय युक्त है। वर्तमान में कई मानव ऐसे भव्य भी हैं जो अधिक से अधिक सद्कार्य कर रहे हैं। ऐसे सदाशयी मनुष्य भी कम नहीं हैं लेकिन उनके पास दिखावा या प्रचार नहीं है– वे अपने क्षेत्र में सरल एव शान्त चित्त से कार्यरत हैं।

किन्तु जिन मनुष्यों का बड़ा प्रचार होता है उनके जीवन में थोथापन भी अधिक मात्रा में पाया जाता है। पानी का वही घड़ा छलकता है जो आधा भरा हुआ होता है। पूर्ण कुभ सदैव शान्त रहता है। पूर्ण कुभ के तुल्य मनुष्यों में अतिशय पुण्यों का सचय होता है। लेकिन जिन मनुष्यों के कृत्यों को देखकर

पशु भी लज्जित होते हैं वे पापाचारी मनुष्य अपनी पहले की सचित पुण्यवानी को खा रहे हैं-- यही समझिये। वर्तमान जीवन मे वे कोई पुण्यवानी नही बाध रहे हैं तो इसके बाद किस योनि में पहुँचेंगे– इसका अनुमान आसानी से हो सकता है कि वह नरक योनि होगी या पशु योनि। आन्तरिक शक्ति एव शान्ति के अभाव मे मनुष्य जीवन की ऐसी ही दुर्गति अवश्यभावी होती है।

फिर भी जनसख्या क्यो बढ रही है ?
शास्त्रीय समाधान

फिर भी जनसख्या इतनी अधिक किस कारण बढ रही है– यह प्रश्न तो रह ही जाता है। इसके समाधान में शास्त्रीय दृष्टि से चिन्तन करेंगे तो मनुष्य योनि में आने के चार साधन– चार खदानें हैं। इनमें से मानव की स्थिति निर्मित होकर आ रही है । ये चार साधन कौन से हैं ? पहला साधन है नरक। आज के क्रूर कर्मी मनुष्य अगले जन्म मे नरक में जाते हैं। लेकिन नरक में रहने वाली आत्माएँ शुभ पुण्यवानी का सचय करके पुन तिरछे लोक में आती हैं। जिन आत्माओं को नरक में जाने के बाद वहाँ की यातनाएँ सहने के कारण विगत मे अपने किये हुए पापों का भान हो जाता है तो फिर वे अपने आपको सुधारने का प्रयत्न करती हैं। जैसा कि यहाँ पर भी कई अपराधी जेल में अपना सुधार कर लेते हैं। पश्चाताप के प्रभाव से ऐसा सुधार हो सकता है। पश्चाताप से पहले के पाप कर्म छूटते हैं तो नवीन शुभ कर्म बधते हैं। वह पुण्य कर्मो का उपार्जन नरक की अवधि समाप्त होने के बाद मनुष्य जीवन में इस आत्मा को पहुँचा सकता है।

दूसरा साधन पशु योनि का है। पशु योनि में आने वाले कई पशु दुनिया की बहुत सेवा करते हैं। गायों और बैलों को ही ले लीजिये। उनको खाने के लिये घास आदि तुच्छ पदार्थ देते हैं लेकिन ईमानदारी से गाएँ दूध देती हैं तो बैल खेती का परिश्रमी काम करते हैं। इस निश्छल सेवा से उनको पुण्यवानी का सचय होता है और मनुष्य योनि में आने का अवसर मिलता है।

तीसरी खदान देव योनि की है। स्वर्ग में देव दिव्य सुख का अनुभव करते हैं और जब उनकी पुण्यवानी खर्च हो जाती है तो वे फिर लौटकर मनुष्य योनि मे आते हैं। वहाँ भी नई पुण्यवानी बाध सकते हैं और मनुष्य योनि में जन्म ले सकते हैं। इस स्थिति का सही अनुभव थली प्रदेश के लोग ले सकते हैं। जैसे वे कमाने के लिये परदेश जाते हैं और धनोपार्जन करके यहाँ मकान आदि की सुख सुविधाएँ भोगते हैं। जब धन खूट जाता है तो फिर परदेश चले जाते हैं।

अपने को

उसी प्रकार देवो के लिये कमाई का क्षेत्र मनुष्य जीवन होता है। मनुष्य जीवन से आत्माएँ पुण्यवानी का सचय करके देव मोनि को प्राप्त करती हैं और वहाँ पुण्यवानी का व्यय करके नवीन अर्जन हेतु फिर मनुष्य योनि में आ जाती हैं।

मनुष्य योनि के लिये चौथी खदान है स्वय मनुष्य योनि की। जो मनुष्य अपने जीवन में लोगों की नि स्वार्थ भलाई करते हैं तथा पीड़ित मानवता की सेवा करते हैं वे पुन मनुष्य योनि को प्राप्त करते हैं। इस दृष्टि से मनुष्यों की सख्या बढ रही है तो भगवान् की वाणी के अनुसार अनन्त पुण्यवानी के फलस्वरूप ही ऐसा हो रहा है। अब वे पूर्वजन्म की पुण्यवानी का दुरुपयोग करें– यह दूसरी बात है।

प्राप्त उपलब्धि के उपयोग का प्रश्न

दैव योग से किसी को एक स्वर्ण-थाल मिल जाय और उसकी जो व्यक्ति कीमत समझता है वह उस थाल को कहाँ रखेगा ? बाहर मैदान में खुला छोड़ देगा अथवा घर में सुरक्षित रखेगा ? कदाचित् वह उस स्वर्ण थाल को त्यौहार के दिन बाहर निकाले और बच्चा उस थाल को बाहर ले जाकर रेत में घसीटने लग जाय तो क्या वह उसे इस तरह घसीटने देगा ? चूंकि उसकी कीमत आप समझते हैं तो बच्चे को वह थाल घसीटने नहीं देंगे। लेकिन उसकी कीमत को जो नहीं समझता है वह उसकी कद्र नहीं कर सकेगा। फिर बच्चा उसे बाहर रेत में घसीटेगा या अन्य प्रकार से उसको विकृत भी बनावेगा तो उसे स्वर्ण थाल का दुरुपयोग ही कहा जायगा।

वैसे ही अनन्त पुण्यवानी से सौ सोने के थालों से भी कई गुना मूल्यवान यह मानव जीवन प्राप्त हुआ है और जो इस जीवन का सही मूल्याकन नहीं कर पाता है वह एक तरह से सोने के थाल को नादान बच्चे के समान रेत में घसीट रहा है। इस अमूल्य मानव तन को धन लिप्सा की मशीन बनाकर उससे हर तरह का काम लिया जाता है। मशीन को भी सप्ताह में एक छुट्टी दी जाती है लेकिन मानव अपनी मशीन को यह भी विश्राम नहीं देता। थोड़ा सा विश्राम वह दे तो उस के अनीति और अन्याय से बिगड़े कल पुर्जो को कुछ सुधारने का समय मिल सकता है। यदि मनुष्य अपने जीवन को शुद्धि के मार्ग पर नहीं लगाता है तो वह इस अमूल्य जीवन का दुरुपयोग ही करता है। पहले का कर्म बध जैसा होगा वैसा फल उसको मिलेगा लेकिन इस जन्म में नई पुण्यवानी न

बाध सकने से वह इस जीवन को समाप्त करके दुर्गति में जायगा।

इस मानव जीवन का सदुपयोग यह होगा कि इसमें आत्मशुद्धि को विकसित बनाकर पुण्यवानी की जमा पूजी में और बढोतरी करे अथवा समूचे कर्मबध का क्षयोपशम करते हुए मोक्ष मार्ग पर अग्रगामी बने। किन्तु यदा कदा किसी भाई से सन्त बोल देते हैं कि कुछ सामायिक– सवर करो और इस आत्मा को पवित्र बनाने में यत्नशील होओ तो वह कह देता है– महाराज चौबीसों घटे व्यापार धधे का ऐसा कामकाज रहता है कि इस काम के लिये फुरसत ही कहाँ है ? महाराज कहें कि भाई रविवार को तो फुरसत रहती है तब भी उत्तर आता है– रविवार को तो और भी ज्यादा काम रहता है। सोचिये कि ऐसा मनुष्य कितनी पुण्यवानी का सचय कर सकता है ? ऐसा मनुष्य इस दुर्लभ जीवन का दुरुपयोग कर रहा है– उसकी भारी बेकद्री कर रहा है। ऐसे मनुष्यों को फिर मनुष्य जन्म नहीं मिलगा। मानव तन की प्राप्त इस अमूल्य उपलब्धि के उपयोग का प्रश्न अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

एक मे चार–
ये और भी अधिक दुर्लभ हैं

भगवान् ने केवल दो हाथ और दो पैर वाले मनुष्य के लिये नहीं आत्माभिमुखी मनुष्य के लिये कहा है कि यह एक मनुष्य जीवन अति दुर्लभ है लेकिन इस एक में भी ये चार और भी अधिक दुर्लभ हैं–

माणुसुत्त सुई सद्धा सजयम्मि य वीरिय।

मनुष्य जीवन कितनी दुर्लभता से मिलता है– इस पर आप विचार कीजिये। एक बार एक विदेशी विद्वान् दिन में गैस की बत्ती जलाकर मनुष्यों की भारी भीड के बीच में एक-एक मनुष्य की आकृति के सामने गैस रखकर उसको देखने लगे। लोगों ने कहा– यह आदमी पागल हो गया है। किसी ने पूछा आप यह क्या तमाशा कर रहे हैं ? विदेशी ने कहा– भाई यह तमाशा नहीं है मैं मनुष्य को खोज रहा हूँ। यह रूपक किस रूप में क्या है– आप भी सोचें और अनुमान लगावें कि कितने मनुष्य हैं और कितने मनुष्यता से हीन हैं ? आप के पास भी कोई भीतर की लाईट हो तो अपनी ही मनुष्यता को तो कम से कम देख लें। मनुष्य जीवन दुर्लभ है लेकिन मनुष्यता उससे भी अधिक दुर्लभ है।

भगवान् ने मनुष्य तन की उपलब्धि के बाद इन चार तत्त्वों को फिर दुर्लभ कहा है। ये चार तत्त्व हैं– मनुष्यता सूत्र श्रद्धा सयम और आत्म वीर्य।

मनुष्य तन मिल जाने के बाद मनुष्य के गुण अगर विकसित नहीं हुए तथा मनुष्यता नहीं आई तो उस मनुष्य जीवन को पाशविक अथवा राक्षसी जीवन की सज्ञा दी जायगी। मानवों की सख्या का बढ जाना पूर्व कर्मों का फल है तो नये पुण्य कर्मों के बधने की दृष्टि से भी मनुष्यता आनी आवश्यक है। मनुष्य अपने जीवन को आत्मशुद्धि की दिशा में मोडे तभी मनुष्यता का विकास होता है। आत्मशुद्धि के लिये अपने विचार वचन एव व्यवहार में समतामय परिवर्तन लाना सरल नही होता है इसीलिये मनुष्यता को दुर्लभ कहा गया है।

मनुष्यता विकसित होती है तो सूत्र याने कि वीतराग वाणी पर सच्ची श्रद्धा बनती है। इस सच्ची श्रद्धा के फलस्वरूप सयम की कर्मठता मिलती है और इन सोपानों के बाद ऊपर का सोपान आता है आत्म वीर्य का– आत्म-पराक्रम एव आत्म पुरुषार्थ का। आत्मा अपने स्वरूप की सारी मलिनता को धो लेने का सकल्प बनाती है और उसकी प्रक्रिया में एकजूट होती है– यह उसका पराक्रम कहलाता है। ऐसी पराक्रमी आत्मा अपने जीवन को स्थायी रूप से मोक्ष के मार्ग पर अग्रसर बना देती है। इसी क्षमता के कारण इन चारों तत्त्वों की दुर्लभता बताई गई है। चार में एक और एक में चार इस तरह दुर्लभ होते हैं।

मानव जीवन का महान् लक्ष्य है–
इसको चरमावर्त बनालो।

ससार सागर की विभिन्न योनियों के आवर्त में– भवर में यह आत्मा गोते खाती आ रही है। इसलिये मनुष्य जीवन का महान् लक्ष्य यह बताया गया है कि ऐसी उत्कृष्ट आत्म-साधना करो जिससे यह जीवन आत्मा के लिये चरम (अन्तिम) आवर्त (भवर) बन कर रह जाय अर्थात् इस आवर्त से निकल कर आत्मा ससार सागर को पार कर जाय। प्रार्थना में कवि ने यही सकेत दिया है–

चरमावर्त हो चरण करण तथा रे
भव परिणति परिपाक।

मनुष्य तन पहले भी बहुत बार पा लिया लेकिन उसमें चरमावर्त का सुयोग नहीं बना। अत्यधिक पुण्यवानी का जब योग होता है तथा मनुष्यता सूत्र श्रद्धा सयम एव आत्म पराक्रम के चारों अगों का सयोग बैठता है तब चरमावर्त का चरण करण बन सकता है। इस करण की व्याख्या इस रूप में की गई है कि अनादिकाल से जो आत्मा मिथ्यादृष्टि बनी हुई है वह जब सम्यक्त्व को प्राप्त करती है तथा सम्यक्त्वी जीवन को सर्वोत्कृष्ट श्रेणी में पहुँचाती है तब चरमावर्त

के चरण करण का उदय सभव बनता है।

चरमावर्त का चरण करण जिन ऐतिहासिक पुरुषों का बना तो उनका जीवन अनूठी तेजस्विता से ओत-प्रोत हो गया। आज के मानव को भी यह सोचना है कि हमें किसी सन्त के कहने की या दूसरों के कहने की स्थिति नहीं आवे– हम अपने आप देखें कि हमारा जीवन किस स्तर पर चल रहा है उसकी समीक्षा करें तथा उसको ऐसे साधना पथ पर आगे बढावें कि चरमावर्त का चरण करण योग बन जाय। किसी के आसू गिराने की दिशा मे नहीं सभी दु खियों के आसू पौंछाने की दिशा में आगे बढें। मनुष्य तन को प्राप्त कर लेने मात्र से आत्म कल्याण नहीं होगा। उसके लिये दुर्लभ चारो अगों का सम्यक विकास साधना होगा– अपने सम्यक्त्व को सर्वोत्कृष्ट गुणस्थान तक पहुँचाना होगा। मानव जीवन की महान् महिमा ही यह है कि इसका सम्पूर्ण सदुपयोग करते हुए इस जीवन को चरमावर्त बना लें।

नोखा
६ १० ७६

❑❑❑

2

सन्त समागम का सत्प्रभाव

श्री समव देव ते धुर
सेवो सवे रे .....

परमात्मा की प्रार्थना जीवन को पवित्र बनाने के उद्देश्य से की जाती है। प्रभु वीतराग देव ही सिद्ध अवस्था में सदा काल के लिये विद्यमान हैं। वे यहाँ आ नहीं सकते लेकिन हमारी आत्मा उनको आदर्श रूप में मानकर उन का ध्यान करती हुई स्वय भी परमात्म पद के योग्य बन सकती है।

योग्य बनने में उपादान और निमित्त भाव की भी आवश्यकता होती है। उपादान कारण आत्मा की स्वय की आन्तरिक भावना और निज शक्ति के रूप में होता है परन्तु निमित्त कारण परमात्म स्वरूप की आराधना आध्यात्मिक ग्रथों की स्वाध्याय आदि शुभ साधन हो सकते हैं किन्तु इन सबका भी निमित्त कारण मूल रूप में सन्त समागम को मानना चाहिये। सन्त इस ससारी आत्मा को आध्यात्मिकता का पाठ अ आ से शुरू करके आत्मिक शक्तियों के प्रकटीकरण तक कुशलता से पढ़ा सकते हैं इसलिये सन्त समागम से बढकर कोई भी दूसरा निमित्त व्यापक रूप से प्रभावशाली नहीं हो सकता है।

सन्त-समागम आत्म जागृति का आधार

सन्तों के समागम से या सन्तों के निमित्त से आत्म जागृति का परिपुष्ट आधार बनता है और कई आत्माएँ शीघ्रता से समुन्नत बन जाती हैं। इस आत्मोत्थान की प्रक्रिया में निमित्त कारण की भी पूर्ण आवश्यकता होती है। उपादान और निमित्त की चर्चा विशेष रूप से तो अभी करने का प्रसग नहीं है लेकिन संक्षेप में यह समझ लें कि उपादान उस शक्ति या कारण को कहें जो

कार्य रूप में परिणित हो जाय और निमित्त वह है जो कार्य का सम्पादन करता है। पुरुष वह स्वय अलग है उसमें मिलता नहीं है।

यह कपडा आप पहन करके या ओढ करके बैठे हैं यह किससे बना है ? यह सूत के धागों से बना है। सूत के धागो मे कपडा बुनने की योग्यता नहीं होती तो कपड़ा बुन पाता क्या ? सूत के धागे उपादान कारण हैं। ये कपडे के रूप में परिणित हो गये क्योंकि उपादान कारण की शक्ति इन धागों में थी। लेकिन कपडा बुनने वाला या बुनकर नहीं मिलता तो क्या कपड़ा बुन पाता ? जिन व्यक्तियों का यह कहना है कि उपादान कारण ही सब कुछ होता है निमित्त कुछ नहीं करता तो उनका वैसा कथन अधूरे ज्ञान का ही परिचायक होगा । यदि उपादान ही सब कुछ हो तो रूई में उपादानता है इसलिये रुई को धागे के रूप में किसी के द्वारा कातने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसी तरह सूत के धागों को भी कपड़े के रूप में बुनने की कोई आवश्यकता नहीं है। रूई खुद ही धागों में और धागे कपडों में बदल जाने चाहिये। लेकिन ऐसा होता नहीं है और सूत के धागों को कपड़े में बदलने के लिये बुनकर की जरूरत पड़ती है। यह बुनकर निमित्त कारण कहलाता है। बुनकर ही धागों को जोड़कर कपड़े के रूप में उन्हें परिवर्तित करता है। कोई कह दे कि निमित्त कारण ही सब कुछ है तो वह भी सही नहीं है। कोई ना माने तो भी सही नहीं होगा कि उपादान और निमित्त धारण ही सब कुछ है। कारण कल्पना करें कि बुनकर चतुर है और धागा भी अच्छा है लेकिन अगर धागों को बुनने का साधन करधा आदि नहीं है तो क्या कपड़ा बुना जायगा ?

इस तरह कार्य सम्पादन में तीन की आवश्यकता हुई– 1 उपादान कारण 2. निमित्त कारण तथा 3 समष्टिकरण सामग्री। तीनों जब मिलेंगे तभी कोई काम बनेगा चाहे वह छोटे से छोटा काम ही क्यों न हो ? यही सिद्धान्त आत्म-जागृति के लिये भी लागू होता है। जो उपादान कारण रूप धागा है उसे आत्मा का रूपक समझिये। अब निमित्त कारण रूप बुनकर की आवश्यकता है यह निमित्त कारण होता है सन्त-समागम । गुरु आत्मा को वह कला सिखाता है जिससे आत्मा परमात्म स्वरूप में परिवर्तित हो जाती है। 'बलिहारी गुरु देव की जो गोविन्द दियो बताय' की उक्ति आप जानते हैं। इस रूप में आत्म जागृति का आधार निमित्त कारण की दृष्टि से सन्त-समागम होता है।

सन्त का स्वरूप तथा समागम का सत्प्रभाव

आत्म जागृति का निमित्त कारण वही सन्त होता है जिसके गुणों की शास्त्रकारों ने परिभाषा दी है। वे कहते हैं कि सन्त और गुरु वही है जो अन्तरात्मा के लिये श्रद्धा का केन्द्र होता है जो आत्म सशोधन की प्रेरणा देता है तथा जिसके निमित्त से आत्मा उज्ज्वलतर स्वरूप ग्रहण करती है। गुरु के सान्निध्य में जाने से मनुष्य के कई दोष तथा सचित पाप सहज रूप में ही समाप्त हो जाते हैं।

मनोविज्ञान की बारीकी में उतर कर देखें और अनुभव करें तो प्रतीत होगा कि जब श्रद्धावनत होकर कल्याण कामना से कोई व्यक्ति सद्‌गुरु के समीप में पहुँचता है तो अनायास रूप से उनके त्याग का सत्प्रभाव उस व्यक्ति के हृदय पर गिरने लगता है। वह भीतर ही भीतर अपने को गुरु के शुक्ल प्रभाव से प्रभावित अनुभव करता है तथा उस प्रभाव के कारण उसकी भावनाओं में परिवर्तन आने लगता है। उस समय जो उज्ज्वलता आती है उससे बुरे पाप कर्म स्वत हटते जाते हैं और आत्म जागृति का स्वरूप उज्ज्वलतर होता जाता है।

जैसे कोई व्यक्ति गटर के गन्दे वातावरण में काम करता हुए ऐसे यन में या उपवन में पहुँच जावें जहाँ सुवासित गुलाब के फूल खिले हुए हों तो बताइये कि उस व्यक्ति को कैसा अनुभव होगा ? जिस दुर्गंध से उसका नाक भरा हुआ था– उसका मस्तक भनभना रहा था वहाँ गुलाब की भीनी-भीनी सुगन्ध उसके नाक में पहुँचेगी तो स्वाभाविक रूप से उसको भला महसूस होगा। उसका मस्तक तरोताजा बनकर हल्का हो जायगा। उस स्वस्थ मन मस्तिष्क के साथ जब वह जीवन की समस्याओं को सुलझाने के लिये बैठेगा तो वह उनका सुन्दर समाधान भी निकाल लेगा । जैसे भीषण गर्मी से तपा हुआ व्यक्ति शीतल सरोवर के समीप पहुँच कर शान्ति का अनुभव करता है उसी प्रकार ससार के कष्टों से व्यथित बना हुआ भव्य प्राणी जब सद्‌गुरु की सेवा में पहुँचता है– उनके समागम में आता है तो उसे अनुपम आत्मिक शान्ति की अनुभूति होती है। सरोवर के जल को नहीं छुए उससे पहले ही उसकी लहरों को स्पर्श करके आने वाली वायु की हिलोर उसके तापतप्त तन को शीतल स्पर्श देती है वैसे ही गुरु के चारों ओर के वातावरण में ही उसको शीतलता का आभास हो जाता है तथा सरोवर का शीतल जल जब वह पी लेता है याने कि गुरु की सेवा में जुट कर

उनके ज्ञान और कर्म को अपने अन्त करण में उतारने लगता है तब तो उसके भीतर बाहर सब और शान्ति विराजमान हो जाती है। वह आत्म तृप्ति से आनन्द विमोर बन जाता है। श्रेष्ठ सन्तों के समागम का सत्प्रभाव अतुलनीय होता है।

साधु के साथ सम्पर्क
साधुता की ओर प्रयाण

जो सच्चे मन से साधु के सम्पर्क में पहुँचता है और साधुता के स्वरूप को परख कर अपने जीवन में परिवर्तन लाता है वह अवश्य ही साधुता की ओर प्रयाण कर देता है। जब प्राकृतिक तत्त्वों के वास्तविक सम्पर्क में भी शान्ति और आनन्द का अनुभव होता है तो सोचिये कि उस बाहरी आनन्द की तुलना में सन्त समागम से मिलने वाला आत्मिक आनन्द कितना गहरा और कितना सुखदायक होता है ? कवि का सकेत है कि–

परिचय पातिक घातक साधु शु रे
अकुशल अपचय चेत।
ग्रथ अध्यातम श्रवण मनन करि रे
परिशीलन नय हेत।।

कितनी आध्यात्मिक विज्ञान की बात इसमें कही गई है ? साधु से परिचय– साधु से सम्पर्क पाप का घात करने मे एक अमोघ उपाय सिद्ध होता है। यदि सच्चे सत के पास कोई पहुँचेगा तो उसके दिल का नक्शा बदले बिना नहीं रहेगा। वह उस त्यागी को भी देखेगा तथा अपने को भी देखेगा और सोचेगा कि ये कहाँ हैं और मैं कहाँ हूँ ? उस चिन्तन में उसको दिखाई देगी उसकी अपनी अन्तर्वृतियाँ कि वे सन्त की त्यागमय वृत्तियों की तुलना में कितनी दलित बनी हुई हैं ? साधु के साथ सम्पर्क का ऐसा ही अनुपम प्रभाव पडता है।

कल दीक्षा-स्थल पर आपने देखा होगा कि दीक्षित होने वाली आत्मा जब जनता के समक्ष खडी हुई तो उस वक्त उसके मन में क्या कुछ आन्दोलन चल रहा था और कैसी भाव भगिमा उठ रही थी ? जब उनके परिजनों को देखा होगा तब दर्शकों के मन में कितनी उथल पुथल मची होगी और किस प्रकार की भावनाओं की लहरें जगी होगी ? क्या आपके दिल में नहीं आया कि कहाँ तो छोटी से छोटी चीजों का त्याग करने में लोगों को हिचकिचाहट आती है और कहाँ वह आत्मा सारे परिवार का मोह ममत्व त्याग कर साध्वी बन गई ? आपने

सन्त का स्वरूप तथा समागम का सत्प्रभाव

आत्म जागृति का निमित्त कारण वही सन्त होता है जिसके गुणों की शास्त्रकारों ने परिभाषा दी है। वे कहते हैं कि सन्त और गुरु वही है जो अन्तरात्मा के लिये श्रद्धा का केन्द्र होता है जो आत्म सशोधन की प्रेरणा देता है तथा जिसके निमित्त से आत्मा उज्ज्वलतर स्वरूप ग्रहण करती है। गुरु के सान्निघ्य में जाने से मनुष्य के कई दोष तथा सचित पाप सहज रूप में ही समाप्त हो जाते हैं।

मनोविज्ञान की बारीकी में उतर कर देखें और अनुभव करे तो प्रतीत होगा कि जब श्रद्धावनत होकर कल्याण कामना से कोई व्यक्ति सद्‌गुरु के समीप मे पहुँचता है तो अनायास रूप से उनके त्याग का सत्प्रभाव उस व्यक्ति के हृदय पर गिरने लगता है। वह भीतर ही भीतर अपने को गुरु के शुक्ल प्रभाव से प्रभावित अनुभव करता है तथा उस प्रभाव के कारण उसकी भावनाओं में परिवर्तन आने लगता है। उस समय जो उज्ज्वलता आती है उससे बुरे पाप कर्म स्वत हटते जाते हैं और आत्म जागृति का स्वरूप उज्ज्वलतर होता जाता है।

जैसे कोई व्यक्ति गटर के गन्दे वातावरण में काम करता हुए ऐसे वन में या उपवन में पहुँच जावें जहाँ सुवासित गुलाब के फूल खिले हुए हों तो बताइये कि उस व्यक्ति को कैसा अनुभव होगा ? जिस दुर्गंध से उसका नाक भरा हुआ था– उसका मस्तक भनभना रहा था वहाँ गुलाब की मीनी-मीनी सुगन्ध उसके नाक में पहुँचेगी तो स्वाभाविक रूप से उसको भला महसूस होगा। उसका मस्तक तरोताजा बनकर हल्का हो जायगा। उस स्वस्थ मन मस्तिष्क के साथ जब वह जीवन की समस्याओं को सुलझाने के लिये बैठेगा तो वह उनका सुन्दर समाधान भी निकाल लेगा । जैसे भीषण गर्मी से तपा हुआ व्यक्ति शीतल सरोवर के समीप पहुँच कर शान्ति का अनुभव करता है उसी प्रकार ससार के कष्टों से व्यथित बना हुआ भव्य प्राणी जब सद्‌गुरु की सेवा में पहुँचता है– उनके समागम में आता है तो उसे अनुपम आत्मिक शान्ति की अनुभूति होती है। सरोवर के जल को नहीं छुए उससे पहले ही उसकी लहरों को स्पर्श करके आने वाली वायु की हिलोर उसके तापतप्त तन को शीतल स्पर्श देती है वैसे ही गुरु के चारों ओर के वातावरण में ही उसको शीतलता का आभास हो जाता है तथा सरोवर का शीतल जल जब वह पी लेता है याने कि गुरु की सेवा में जुट कर

उनके ज्ञान और कर्म को अपने अन्त करण मे उतारने लगता है तब तो उसके भीतर बाहर सब ओर शान्ति विराजमान हो जाती है। वह आत्म तृप्ति से आनन्द विमोर बन जाता है। श्रेष्ठ सन्तों के समागम का सत्प्रमाव अतुलनीय होता है।

साधु के साथ सम्पर्क साधुता की ओर प्रयाण

जो सच्चे मन से साधु के सम्पर्क में पहुँचता है और साधुता के स्वरूप को परख कर अपने जीवन में परिवर्तन लाता है वह अवश्य ही साधुता की ओर प्रयाण कर देता है। जब प्राकृतिक तत्त्वों के वास्तविक सम्पर्क में भी शान्ति और आनन्द का अनुमव होता है तो सोचिये कि उस बाहरी आनन्द की तुलना में सन्त समागम से मिलने वाला आत्मिक आनन्द कितना गहरा और कितना सुखदायक होता है ? कवि का सकेत है कि–

परिचय पातिक घातक साधु शु रे
अकुशल अपचय चैत।
ग्रथ अध्यातम श्रवण मनन करि रे
परिशीलन नय हेत।।

कितनी आध्यात्मिक विज्ञान की बात इसमें कही गई है ? साधु से परिचय– साधु से सम्पर्क पाप का घात करने में एक अमोघ उपाय सिद्ध होता है। यदि सच्चे सत के पास कोई पहुँचेगा तो उसके दिल का नक्शा बदले विना नहीं रहेगा। वह उस त्यागी को भी देखेगा तथा अपने को भी देखेगा और सोचेगा कि ये कहाँ हैं और मैं कहाँ हूँ ? उस चिन्तन में उसको दिखाई देगी उसकी अपनी अन्तर्वृत्तियाँ कि वे सन्त की त्यागमय वृत्तियों की तुलना में कितनी दलित बनी हुई हैं ? साधु के साथ सम्पर्क का ऐसा ही अनुपम प्रमाव पड़ता है।

कल दीक्षा-स्थल पर आपने देखा होगा कि दीक्षित होने वाली आत्मा जब जनता के समक्ष खड़ी हुई तो उस वक्त उसके मन में क्या कुछ आन्दोलन चल रहा था और कैसी माव मगिमा उठ रही थी ? जब उनके परिजनों को देखा होगा तब दर्शकों के मन में कितनी उथल पुथल मची होगी और किस प्रकार की मावनाओं की लहरें जगी होगी ? क्या आपके दिल में नहीं आया कि कहाँ तो छोटी से छोटी चीजों का त्याग करने में लोगों को हिचकिचाहट आती है और कहाँ वह आत्मा सारे परिवार का मोह ममत्व त्याग कर साध्वी बन गई ? आपने

यह दृश्य आखों से देखा और सारी बात कानो से सुनी । ऐसे समय में तो साधुता की ओर प्रयाण करने का मन आपका भी हुआ होगा आखिर कई भव्य आत्माऐं इस प्रकार जागृत बनती ही है तथा साधु के साथ सम्पर्क कम से कम भावनाओं को उस दिशा में उद्वेलित तो बनाता ही होगा । साधु सम्पर्क अथवा सन्त समागम का शुभ प्रभाव पडे बिना नहीं रहता है।

ऐसे बहुतेरे के प्रसग बन जाते हैं जिनके द्वारा सन्त समागम के सत्प्रभाव का स्पष्टीकरण होता है। पूज्य श्री श्रीलालजी म सा की बात कान में आई हुई है कि एक बार चार मुमुक्षु आत्माऐं दीक्षा लेने के लिये तैयार बैठी हुई थी और उनकी हजामत के लिये नाइयों को बुलवाया गया तो चार की बजाय पाच नाई आ गये। चार नाई तो दीक्षार्थियों का मुडन करने के लिये बैठ गये लेकिन पाचवा नाई उदास सा एक तरफ बैठ गया और उसकी आखों से आसू गिरने लगे। एक सेठ वहाँ बैठा हुआ था उसको रोते हुए देखकर पूछने लगा— भाई तू रोता क्यों है ? उसने कहा कि मेरे चारों साथियों के तो अच्छी आय हो जायगी और मैं वैसे ही रह जाऊगा। सेठ ने कहा तू खाली बच गया इसलिये रो रहा है। सेठ ने पास ही बैठे हुए अपने पुत्र से कहा कि तू सहमत हो जाता हो तो मैं भी दीक्षा ले लू। पुत्र भी भावना वाला था और उसने कोई आपत्ति नहीं की। उन्होंने अपने कपडे उतारे और पाचवे नाई से कहा— ले भाई तू मुझे भी मूड दे। ऐसी आत्म जागृति का परिचय सन्त समागम से ही समव बनता है।

उन्नति मे प्राप्त सत सहायता
शीघ्र उच्च शिखर पर पहुँचा देती है

साधु के त्यागमय सम्पर्क से एक व्यक्ति के मन में आत्मोन्नति का अकुर फूटता है तो सतों की प्रतिबोध सहायता से वही छोटा सा अकुर विशाल वृक्ष का रूप धारण कर लेता है। त्यागी जीवन का सम्पर्क किस प्रकार एक व्यक्ति को त्याग की दिशा में मोड़ देता है— यह सारे ससार में आध्यात्मिक जीवन का अति महत्त्वपूर्ण तथा ज्ञातव्य मुद्दा है। इसका सही मूल्याकन भावनाशील व्यक्ति ही कर सकते हैं। जिसकी बुद्धि इस स्तर की नहीं होती है कि वे सन्त समागम में इस प्रकार की अनुभूति जागृत करें वह आत्मा भले ही उसके महत्त्व को न जान पाए वरना सन्त समागम के पवित्र वायुमडल का सत्प्रभाव पड़ना अवश्यभावी है।

उत्तराध्ययन सूत्र में महावीर प्रभु ने कहा है कि जो आध्यात्मिक जीवन में सहायक बनना चाहते हैं उन्हें पहले निपुण बुद्धि वाला बनना चाहिये। निपुण

बुद्धि उसको कहते हैं जो अपने जीवन को सार्थक बना लेता है श्रेष्ठ आत्मिक गुणों को धारण कर लेता है तथा तदनुसार उत्कृष्ट आचरण का निर्माण कर लेता है। योग्य को सहायक बनाते हैं तो बहुत बड़ी सहायता मिल जाती है। उस सहायता से आत्मशक्ति का विकास त्वरित गति से होने लगता है। सन्तो के सामने चाहे व्यक्ति पहले कठोर बन कर जाता है लेकिन जिसकी आत्मा मे पवित्रता की उत्कठा होती है वह उनके समागम में रह जाने के बाद कोमल ह्रदय वाला भी बन जाता है तथा विकास के सही मार्ग को भी पकड़ लेता है। चन्दन को काटने की कुल्हाडी धूप में पडी रहने से भले ही गरम हो रही हो लेकिन जब वह चन्दन की लकडी को छुएगी तो वह शीतल भी हो जायगी तथा सुगन्धित भी बन जायगी। सन्तजनों का शीतल और शान्तिदायक परिचय क्रूर से क्रूर ह्रदय को भी शीतल और शान्त बना देता है। किसी भव्य प्राणी की उन्नति में प्राप्त सन्त सहायता उसे शीघ्र ही उन्नति के उच्च शिखर पर पहुँचा देती है।

जहाँ राजा परदेशी के हाथ सदा खून से लथपथ रहते थे और वह तलवार हाथ मे लेकर घूमता रहता था कि कोई प्राणी मिले और उसे वह मौत के घाट उतार दे। वह कहता था कि मेरी तलवार के सामने परमात्मा भी आ जाय तो उसको भी देख लू। उसने प्राणी हत्या का यह उद्देश्य बताया कि वह आत्मा को देखना चाहता है लेकिन उसे आत्मा दिखाई नहीं दी। जैसे ही वह केशी श्रमण के समीप में पहुँचा तो सबसे पहले उसके मन में कौतूहल जगा– पहला प्रश्न यह उठा कि कौन जड़मूर्ख बैठे हैं तथा कौन जडमूर्ख उनसे कुछ कह रहा है। यह प्रश्न उसने अपने मन में ही रखा और दीवान से पूछा कि यह कौन है ? दीवान ने कहा– राजन् ये महात्मा आत्मा एव परमात्मा का स्वरूप बताने वाले हैं तथा इनका नाम केशी श्रमण है। राजा ने पूछा– क्या ये मुझे भी आत्मा का स्वरूप बता सकते हैं ? दीवान ने कहा– आप पधारेंगे तो अवश्य बतायेंगे।

परदेशी राजा नास्तिक था। वह केशीश्रमण की धर्म सभा के एक किनारे ही खडा रहा तथा उसने हाथ भी नहीं जोड़े। केशीश्रमण ने ही सम्बोधन किया– ओ परदेशी राजा। यह सुनकर राजा को आश्चर्य हुआ कि उन्होंने मुझे पहिचाना कैसे ? वह चकित हो ही रहा था कि केशीश्रमण ने फिर कहा– राजन् आप वृक्ष के नीचे खड़े यह सोच रहे थे कि कौन जडमूर्ख बैठे हैं और कौन जड मूर्ख उनसे कुछ कह रहा है ? यह सुनकर तो राजा आश्चर्यचकित हो गया कि इन्होंने मेरे मन की वह बात भी कैसे जान ली जो मैंने प्रकट तक नहीं की ? उसे लगा कि

इन महात्मा की ज्ञान शक्ति अलौकिक है। राजा परदेशी के मन पर पड़े पर्दे के उठने का समय आ गया था। फिर दोनों के बीच सवाद शुरू हुआ। राजा ने आत्मा के विषय मे कई प्रश्न पूछे और केशीश्रमण से उनका समाधान पाकर उसको सन्तोष हुआ । राजा परदेशी को मिली यह सन्त सहायता थी कि उसका जीवन एकदम परिवर्तित हो गया।

अह भाव न रखे
तथा सन्त से जो मिले ग्रहण करे

कभी-कभी कॉलेजों में अध्ययन-अध्यापन करने वाले व्यक्ति अपने ही ज्ञान को सब कुछ समझकर चलते हैं। एक बार एक तरुण छात्र कॉलेज से शिक्षा लेकर अपने निवास की ओर जा रहा था। रास्ते में उसको एक सन्त मिल गये जिन के पैरों में जूते नहीं मुख पर मुख वस्त्रिका हाथ में रजोहरण व पात्र तथा साधु के कपड़े थे। सन्त को देखकर तरुण छात्र का रोष उबल पड़ा कि ऐसे व्यक्ति निठल्लों की तरह घूमते हैं कुछ कमाते नहीं– मुफ्त का खाते हैं और दुनिया का कोई भला काम नहीं करते। सन्त के सामने जो उसने बोलना शुरू किया तो वह दनादन बोलता ही गया– अपशब्द कहने से भी नहीं चूका।

इतनी अहभाव की बातें कोई आपको सुनादे तो क्या आपके मन मे उथल-पुथल नहीं मच जायगी ? आप भी शायद सुनाने लगें कि तू दूसरों का दोष निकाल रहा है अपना जीवन तो समाल। अपने जीवन की कैसी दशा है और हमको सुनाने चला है। इसके बाद यदि कोई शिष्टता भी छोड़ दे तो भले ही मारा-मारी पर उतारू हो जाय। व्यर्थ के अहभाव को कौन सहन करता है ? वे महात्मा उस तरुण की बातें सुनकर यहीं खडे रह गये। उन्हें जरा भी उत्तेजना नहीं आई। वे सोचने लगे कि गुणगान करने वाले तो बहुत मिलते हैं लेकिन ऐसी बातें सुनाने वाला विरला ही मिलेगा। जब छात्र बोलते-बोलते थक गया और महात्मा कुछ नहीं बोले तो वह भी चुप हो गया।

तब महात्मा ने धीरे से कहा– क्या आप मेरे एक छोटे से प्रश्न का उत्तर देगे ? जब प्रश्न का उत्तर देने की बात उसने सुनी तो उसका अहभाव तीखा बनकर बोल उठा– हम जवाब नहीं देंगे तो और कौन देगा ? महात्मा बोले– देखो एक व्यक्ति ने जो उसके पास सम्पत्ति थी सबकी सब अपने मकान के बाहरी चबूतरे पर फैला दी और ऐलान कर दिया कि जो चाहे जितनी यहाँ से ले जावे। तब भी कोई कुछ नहीं ले गया तो वह सम्पत्ति किसकी रहेगी बता सकेंगे

आप ? छात्र ने कहा– इसमें क्या है कोई नहीं ले गया तो सम्पत्ति उसी की रहेगी जिसकी थी। मुनि शान्त भाव से कहने लगे– तुमने ठीक कहा है। तुम इतनी देर तक अपनी सम्पत्ति भीतर से निकाल-निकाल कर मुझे देते रहे लेकिन मुझे उसम से किसी की तनिक भी आवश्यकता नहीं है। तो आप समझ गये न कि ये सारी बाते किसकी रही ? कर्म बन्धन का भागी कौन हुआ ? जीवन की वास्तविक उन्नति की दृष्टि से सन्त सहायता से कौन वचित रहा ? क्षति किसके जीवन की हुई है ? यह सब सुनकर वह छात्र पानी पानी हो गया। उसका अहभाव टूटा उसका दिल बदला और फिर उसने सन्त से जो ग्राह्य मिला ग्रहण किया।

सच्चे सन्तों के समागम में जावें उनके सामने व्यर्थ का अपना अहभाव बनाये न रखें तथा सन्तों से जो तत्त्व मिले उसे अपने जीवन में ग्रहण करके आत्मोन्नति का मार्ग प्रशस्त बनावे।

सन्त समागम सदा ही हितावह और सुखकारी होता है

इस सत्य को हृदयगम करलें कि सन्त समागम सदा ही हितावह और सुखकारी होता है क्योंकि इससे पाप कर्मो का घात होता है मन की मलिनता मिटती है एव त्याग मार्ग पर अग्रसर होने की प्रेरणा जागती है। लेकिन साधु के परिचय में पहुँचने वाला व्यक्ति जिद्दी और हठी नहीं होना चाहिये बल्कि सरल चित्ती जिज्ञासु एव स्वाध्यायी होना चाहिये ताकि हठाग्रह से दूर रहकर सन्तों के ज्ञान दर्शन चारित्र्य का दीपक वह अपने अन्त करण में भी सजो सके।

सन्त समागम के सत्प्रभाव को एक हठाग्रही व्यक्ति मन में मानकर भी उसे बाहर प्रकट नहीं करता तथा उसके अनुसार चलना नहीं चाहता। इसलिये मन का सरलीकरण अवश्य होना चाहिये और सरल मन के साथ ही सन्तों का समागम करना चाहिये। ऐसी अवस्था में सन्त समागम का सत्प्रभाव जीवन में सक्रिय एव उन्नायक रूप अवश्य लेगा।

नोखा
९ १० ७६

□□□

3

निपुण बुद्धि की आवश्यकता

समव देव ते धुर
सेवो सवे रे .. ..

जीवन के परिपूर्ण विकास की दृष्टि से साध्य और साधन दोनों की आवश्यकता होती है। आत्म शुद्धि स्थायी रूप में सदा काल के लिये बनी रहे– यह साध्य है। इस शुद्धि के लिये जिन उपायों को सफलतापूर्वक जीवन के साथ सम्बन्धित किया जाता है–वे साधन हैं। साधन की स्थिति में बहुतेरे साधनों का प्रसग आ सकता है। सन्त जीवन से परिचय उसके फलस्वरूप प्राप्त आध्यात्मिक जीवन की रुचि तदनुरूप पुरुषार्थ का सकल्प उस सकल्प को कार्यान्वित करने के लिये वैसे ही साथियों का सहयोग– ये सब साधनों के अन्तर्गत है। इन सब साधनों को समन्वित बनाकर कार्यरत करने हेतु निपुण बुद्धि की आवश्यकता होती है। यह निपुण बुद्धि एव सर्वथा साधनों का श्रेष्ठ सयोग बिठाते हुए आत्मा को साध्य की ओर उन्मुख बनाती है तो प्रगति की गति को भी तीव्रता प्रदान करती है।

बुद्धि की निपुणता साधनो व साध्य के समन्वय मे

शास्त्रकारों ने सकेत दिया है कि–

'सहे या मिच्छे निवच्छाकु ...

अर्थात् सबसे पहले बुद्धि की निपुणता इसमें है कि विकास यात्रा में ऐसे सहयोगी का चयन किया जाय जो स्वय बुद्धि निपुण हो तथा बुद्धि की निपुणता को सम्यक प्रेरणा दे सके कहा है सहयोगी ऐसा हो कि जिसकी बुद्धि निपुण

होकर निपुण अर्थ को ग्रहण करने वाली हो अर्थात्– आध्यात्मिक जीवन के परिपूर्ण स्वरूप का अवलोकन करने वाली जगत् के दृश्य पदार्थों का समुचित रूप से विश्लेषण करने वाली तथा भौतिक जगत् एव आध्यात्मिक जगत् के बीच में क्या कुछ लगाव है– इसका अन्वेषण करके उस लगाव का श्रेष्ठ समन्वय साधने वाली पराबुद्धि अर्थात् परा-तत्त्व को परा छोर तक जानने की शक्ति पैदा करने वाली बुद्धि को निपुणार्थ बुद्धि कह सकते हैं। बुद्धि की निपुणता नापने का तथा उसकी सार्थकता का यह श्रेष्ठ मापदण्ड है।

बुद्धि की निपुणता इस दृष्टि से साधनों तथा साध्य के समन्वय साधनों के श्रेष्ठ चयन तथा साध्य के प्रति एकाग्रता में निहित मानी जानी चाहिये। साध्य-साधन का एकाकार स्वरूप स्थापित करने में जो कुशलता का परिचय देना है– वही बुद्धि की निपुणता है। बुद्धि की गतिशीलता का यही प्रमुख केन्द्र भी है।

बुद्धि प्रत्येक आत्मा के निजी गुण के रूप में विद्यमान रहती है। वह एक तरह से स्वतत्र शक्ति नहीं होती है। यदि आत्म स्वरूप से विपरीत दिशा में बुद्धि जाती है तो वह उसकी स्वतत्रता नहीं बल्कि स्वच्छदता होती है जो आत्म घातक कहलाती है। बुद्धि का निपुणार्थ प्राथमिक स्तर पर यही माना गया है कि बुद्धि की स्वच्छदता को रोक कर बुद्धि को आत्मानुशासन में लेवें। आत्मा के गुण के रूप में आत्मा के नियन्त्रण के साथ जब बुद्धि गति करती है तो वह निपुण बुद्धि के रूप मे आत्म-शुद्धि को सर्वोच्च स्थान देती है। ऐसी निपुण बुद्धि वाला पुरुष जब किसी विकासोन्मुख आत्मा का सहयोगी बनता है तो उस विकासोन्मुख आत्मा की बुद्धि का भी सम्यक विकास होता है तथा उसकी बुद्धि भी निपुण बुद्धि बन जाती है। बुद्धि की निपुणता से तब साध्य की प्राप्ति में कठिनाइयाँ नहीं टिकती एव साध्य की सिद्धि में सफलता समीप आ जाती है।

साधनों व साध्य के समन्वय में जब निपुण बुद्धि सफल हो जाती है तो फिर साधनों के चयन का प्रश्न कठिन नहीं रहता कारण तब साध्य के प्रति एकाग्रता सपष्ट बन जाने से कौन सा साधन साध्य के अनुकूल होगा या कौनसा– प्रतिकूल इसका निर्णय लेना सरल हो जाता है। इस दृष्टि से साधनों के चयन में श्रेष्ठ सहयोगी के बाद श्रेष्ठ ग्रथों का क्रम आता है कि जिनके अध्ययन-मनन से आत्म शुद्धि के साध्य को बल मिले।

आत्म शुद्धि की दिशा मे प्रेरक ग्रथो का अध्ययन

निपुण बुद्धि की पहली कसौटी यह मानी जानी चाहिये कि वह

3

निपुण बुद्धि की आवश्यकता

समव देव ते धुर
सेवो सवे रे

जीवन के परिपूर्ण विकास की दृष्टि से साध्य और साधन दोनों की आवश्यकता होती है। आत्म शुद्धि स्थायी रूप में सदा काल के लिये बनी रहे– यह साध्य है। इस शुद्धि के लिये जिन उपायों को सफलतापूर्वक जीवन के साथ सम्बन्धित किया जाता है–वे साधन हैं। साधन की स्थिति में बहुतेरे साधनों का प्रसग आ सकता है। सन्त जीवन से परिचय उसके फलस्वरूप प्राप्त आध्यात्मिक जीवन की रुचि तदनुरूप पुरुषार्थ का सकल्प उस सकल्प को कार्यान्वित करने के लिये वैसे ही साथियों का सहयोग– ये सब साधनों के अन्तर्गत है। इन सब साधनों को समन्वित बनाकर कार्यरत करने हेतु निपुण बुद्धि की आवश्यकता होती है। यह निपुण बुद्धि एव सर्वथा साधनों का श्रेष्ठ सयोग बिठाते हुए आत्मा को साध्य की ओर उन्मुख बनाती है तो प्रगति की गति को भी तीव्रता प्रदान करती है।

बुद्धि की निपुणता साधनो व साध्य के समन्वय मे

शास्त्रकारों ने सकेत दिया है कि–

'सहे या मिच्छे निवच्छाकु,

अर्थात् सबसे पहले बुद्धि की निपुणता इसमें है कि विकास यात्रा में ऐसे सहयोगी का चयन किया जाय जो स्वय बुद्धि निपुण हो तथा बुद्धि की निपुणता को सम्यक प्रेरणा दे सके कहा है सहयोगी ऐसा हो कि जिसकी बुद्धि निपुण

होकर निपुण अर्थ को ग्रहण करने वाली हो अर्थात्– आध्यात्मिक जीवन के परिपूर्ण स्वरूप का अवलोकन करने वाली जगत् के दृश्य पदार्थो का समुचित रूप से विश्लेषण करने वाली तथा भौतिक जगत् एव आध्यात्मिक जगत् के बीच में क्या कुछ लगाव है– इसका अन्वेषण करके उस लगाव का श्रेष्ठ समन्वय साधने वाली पराबुद्धि अर्थात् परा-तत्त्व को परा छोर तक जानने की शक्ति पैदा करने वाली बुद्धि को निपुणार्थ बुद्धि कह सकते हैं। बुद्धि की निपुणता नापने का तथा उसकी सार्थकता का यह श्रेष्ठ मापदड है।

बुद्धि की निपुणता इस दृष्टि से साधनों तथा साध्य के समन्वय साधनो के श्रेष्ठ चयन तथा साध्य के प्रति एकाग्रता में निहित मानी जानी चाहिये। साध्य-साधन का एकाकार स्वरूप स्थापित करने में जो कुशलता का परिचय देना है– वही बुद्धि की निपुणता है। बुद्धि की गतिशीलता का यही प्रमुख केन्द्र भी है।

बुद्धि प्रत्येक आत्मा के निजी गुण के रूप में विद्यमान रहती है। वह एक तरह से स्वतत्र शक्ति नहीं होती है। यदि आत्म स्वरूप से विपरीत दिशा में बुद्धि जाती है तो वह उसकी स्वतन्त्रता नहीं बल्कि स्वच्छदता होती है जो आत्म घातक कहलाती है। बुद्धि का निपुणार्थ प्राथमिक स्तर पर यही माना गया है कि बुद्धि की स्वच्छदता को रोक कर बुद्धि को आत्मानुशासन में लेवें। आत्मा के गुण के रूप में आत्मा के नियन्त्रण के साथ जब बुद्धि गति करती है तो वह निपुण बुद्धि के रूप में आत्म-शुद्धि को सर्वोच्च स्था देती है। ऐसी निपुण बुद्धि वाला पुरुष जब किसी विकासोन्मुख आत्मा का सहयोगी बनता है तो उस विकासोन्मुख आत्मा की बुद्धि का भी सम्यक विकास होता है तथा उसकी बुद्धि भी निपुण बुद्धि बन जाती है। बुद्धि की निपुणता से तब साध्य की प्राप्ति में कठिनाइयाँ नहीं टिकती एव साध्य की सिद्धि में सफलता समीप आ जाती है।

साधनों व साध्य के समन्वय में जब निपुण बुद्धि सफल हो जाती है तो फिर साधनों के चयन का प्रशन कठिन नहीं रहता कारण तब साध्य के प्रति एकाग्रता सपष्ट बन जाने से कौन सा साधन साध्य के अनुकूल होगा या कौनसा– प्रतिकूल इसका निर्णय लेना सरल हो जाता है। इस दृष्टि से साधनों के चयन में श्रेष्ठ सहयोगी के बाद श्रेष्ठ ग्रथों का क्रम आता है कि जिनके अध्ययन-मनन से आत्म शुद्धि के साध्य को बल मिले।

आत्म शुद्धि की दिशा मे प्रेरक ग्रथो का अध्ययन

निपुण बुद्धि की पहली कसौटी यह मानी जानी चाहियें कि वह

अध्ययन-मनन के लिये ऐसे ग्रथों का चुनाव करे जिनसे आत्म शुद्धि की दिशा में आगे बढने की प्रेरणा मिलती हो। योग्य सहयोगी सहज में उपलब्ध हो जाय- यह सरल नहीं है अत यदि योग्य सहयोगी का अभाव रहता है तो प्रेरक ग्रथों का चुनाव और अधिक महत्त्वपूर्ण बन जाता है। फिर ग्रथों के अध्ययन से ही यह परिणाम निकलना चाहिये कि बुद्धि अपनी निपुणता के मार्ग से विचलित न हो तथा सभी साधनों को समन्वित रख कर आत्म शुद्धि के साध्य की तरफ गति करती रहे। इसलिये ये ग्रथ कैसे हों- यह देखना पहला सतर्क कार्य होना चाहिये।

प्रार्थना में कवि का सकेत भी यही है कि जीवन के तत्त्वों की उपलब्धि मे ग्रथों के अध्ययन से भी भारी सहायता मिल सकती है अत श्रेष्ठ ग्रथों का अध्ययन किया जाय तथा उनसे आत्म शुद्धि की दिशा में आगे बढने रहने की प्रेरणा प्राप्त की जाय। वैसे ग्रथों की दृष्टि से बहुतेरे ग्रथ कई पुस्तकें सहायक दृष्टि से वैज्ञानिक विषयों की पुस्तकें उपन्यास तथा अन्यान्य विषयों से सम्बन्धित बहुतेरी पुस्तकें ससार के सामने उपलब्ध हैं। जिस विषय के ग्रथ को आप उठायेगे और उसका जब आप अध्ययन करेंगे तो आपके मानस की स्थिति उसके अनुरूप बनेगी- यह स्वाभाविक है। उसके अनुरूप बनने में ग्रथ भी माध्यम बनते हैं और वे ग्रथ बुद्धि को अपनी ओर खींचते हैं।

इसलिये ज्ञानियों का इसमें सशोधन रहता है कि एक विकासोन्मुख आत्मा को तथा उसकी निपुण बुद्धि को उन्हीं ग्रथों को चयन करना चाहिये तथा उन्हीं ग्रथों का अध्ययन करना चाहिये जो आत्म शुद्धि के साध्य को प्राप्त कराने के आदर्श साधन के रूप में यथायोग्य लगते हों। ससार में प्राय करके अधिक ग्रथ दृश्य पदार्थो का विवेचन करने वाले होते हैं तथा रुचि को सासारिकता की तरफ मोडने वाले होते हैं अत आत्म शुद्धि के लिये आध्यात्मिक ग्रथों का ही विशेष रूप से अध्ययन एव मनन किया जाना चाहिये। मानवीय जीवन के व्यवहारिक क्षेत्र में क्या कुछ होना चाहिये किन-किन परिस्थितियों में मानव का आचरण कैसा बनना चाहिये व्यक्तिगत जीवन की व्यवस्था कैसी हो राष्ट्रीय धरातल पर क्या उत्तरदायित्व वहन किया जाय किस प्रकार के सहयोगी को ग्रहण करें परिवार और समाज के बीच में किन आदर्शों को प्रतिष्ठित करें आर्थिक समस्याओं का हल किस नैतिकता से किया जाय सामाजिक उलझनों को कैसे निपटावें आदि आदि विषयों के विभिन्न ग्रथ मानव-मस्तिष्क के सामने आते हैं। लेकिन यह एक पक्ष है। ये मनुष्य के बाहरी जीवन की सजावट है लेकिन भीतरी जीवन को इनमें छुआ नहीं जाता है जबकि बाहरी जीवन को बनाने वाली समग्र शक्ति भी भीतरी जीवन से उभर कर आती है। अत जिस मूल

स्थान से यह शक्ति उभरती है उसके विषय में सबसे पहले ज्ञान होना चाहिये और उसके लिये सर्वप्रथम वैसे ग्रथों का ही अध्ययन किया जाना चाहिये । आत्म शुद्धि की प्रेरणा को केन्द्रित मान कर ही ग्रथो का अध्ययन हेतु चयन करें तथा मूल शक्ति को पहले पहिचानें।

श्रेष्ठ ग्रथ
श्रेष्ठ सहयोगी का सबल देते हैं

वाह्य जीवन मुख्य रूप से भीतरी जीवन की प्रेरणा से चलता है अत शक्ति का मूल स्थान बाहर नहीं भीतर होता है। इसीलिये भीतर को सवारना पहले जरूरी है। भीतर को सवार लें तो बाह्य स्वत ही सवर जायगा। इस दृष्टि से सहयोगी भी वैसा होना चाहिये जो भीतर को सवारने में सहायता दे सके तथा ग्रथ भी वैसे होने चाहिये जिनसे आन्तरिकता को उद्‌बोधन मिले। ऐसा सहयोगी ही श्रेष्ठ सहयोगी कहलायगा तथा यदि ऐसा श्रेष्ठ सहयोगी उपलब्ध न हो तो ऐसे श्रेष्ठ ग्रथ श्रेष्ठ सहयोगी के तुल्य ही आत्म शुद्धि के साध्य को सम्बल प्रदान करते हैं।

बाह्य ज्ञान विज्ञान के ग्रथो का ही अवलोकन करें तो उन्हीं विषयों को पकड पायेंगे जो बाहरी दृश्यो का विश्लेषण करते हैं लेकिन उनकी कारणभूत शक्ति को नहीं पकड पायेगे। मानव इस कमी के कारण ही बाह्य पदार्थों तथा वाह्य वृत्तियों में उलझ जाता है और उसी दिशा में गति करने लगता है जिससे उसकी आन्तरिक शक्ति को जगाने की प्रेरणा शिथिल हो जाती है। वह अज्ञान दशा होती है तथा आत्मा की वर्तमान दुरावस्था का कारण यही अज्ञान दशा है। अज्ञान दशा में बुद्धि का निपुण होना तो दूर रहा– बुद्धि भी दुर्बुद्धि का काला रूप ग्रहण कर लेती है। बुद्धि सुबुद्धि बने तथा निपुण बुद्धि बने– उसका पहला अभिप्राय ही यह है कि आत्मा की अज्ञान दशा मिटे तथा उसकी आन्तरिकता प्रबुद्ध बने। इसी कारण विशिष्ट ज्ञानियों का यह सशोधन है कि बाह्य दृश्यों में ही रमण करते हुए जीवन को समाप्त कर देना– यह मानव जीवन के प्रति सबसे बडा अन्याय है।

यह मानव जीवन आन्तरिकता की गहराइयों को छूने के लिये है। यह जीवन अन्तरात्मा में पैठकर आत्मिक शक्तियों को पाने के लिये है एव विषम स्थितियों का समानीकरण करके सदा के लिये सुखी बनने के लिये है। इस जीवन को किसी भी क्षण अशान्ति की गर्म हवा न लगे– इस हेतु श्रेष्ठ ग्रथों का मार्गदर्शन अत्यावश्यक है। श्रेष्ठ ग्रथों के अध्ययन से ही वह बुद्धि निपुणता की शक्ति प्राप्त होती है जिससे इसी जीवन में परिपूर्ण साधना की सुदृढ पृष्ठभूमि

बन जाय। चरम सीमा की साधना की दिशा में आगे बढ़ने के लिये उसके अनुरूप ग्रथों का वाचन किया जाय। कवि का सकेत है कि ये अनुरूप ग्रथ प्रधान रूप से आध्यात्मिक ग्रथ होते हैं जिनके श्रवण वाचन अध्ययन मनन तथा चिन्तन को उपादेय मानकर चलें। जो ऐसा मानकर चलेगा उसका मन-मस्तिष्क नय तत्त्व का परिशीलन करने में समर्थ बन सकेगा। नयों का परिशीलन करने का तात्पर्य है कि वीतराग देवो ने प्रत्येक वस्तु-स्वरूप को समझने का सुन्दर मार्ग बताया है और उसी मार्ग के माध्यम से वस्तु स्वरूप को समझने का यत्न किया जाय। नय सग्रह नय आदि सात प्रकार के कहे गये हैं जिनके माध्यम से वस्तु स्वरूप का विश्लेषण किया जाता है तो उस स्वरूप के सभी पक्षों का भव्य रीति से ज्ञान हो सकता है– यही नयवाद का परिशीलन है। आध्यात्मिकता के साथ नयों का परिशीलन होगा तो आत्मा परमात्मा तथा आत्मिक गुणों के स्वरूप को हृदयग्राही रूप से समझा जा सकेगा।

इसलिये यदि सन्त समागम की दृष्टि से अच्छे विशिष्ट निपुण बुद्धि तथा दूरदृष्टि गुरु का सयोग नहीं जुटता हो तो अथवा उनके निर्देश से श्रेष्ठ आध्यात्मिक ग्रथों का सयोग प्रत्येक विकासशील व्यक्ति के लिये नितान्त आवश्यक है। ग्रथ का गुरु प्रत्येक क्षण अपने पास रह सकता है तथा जब भी यत्किचित् अवकाश मिले उसी समय ग्रथ का पठन और अध्ययन हो सकता है। श्रेष्ठ सहयोगी का विकल्प केवल श्रेष्ठ ग्रथ ही हो सकते हैं।

बुद्धि निपुणता के लिये स्वाध्याय की उपयोगिता

पग-पग पर जीवन की ग्रथियॉ मानव को उलझाना चाहती हैं– उनकी उलझन से निकलने के लिये तथा उनकी उलझन से बचने के लिये बुद्धि की निपुणता ही श्रेष्ठ सहायता कर सकती है तथा इस हेतु स्वाध्याय की उपयोगिता निर्विवाद सिद्ध है। जीवन की ग्रथियों को सुलझाने का मार्ग बुद्धि स्वाध्याय में ही ढूढ सकती है। इस अन्तरात्मा का कितना विराट् स्वरूप रहा हुआ है आन्तरिक जागरण के क्या-क्या साधन हैं तथा आत्मानुभूति का कैसा आनन्द होता है– इन सब बातों का विज्ञान स्वाध्याय से ही समव बनता है। स्वय अध्ययन करें स्वय चिन्तन करें तथा स्वय निर्णय लें-- ऐसी स्वतत्र और विशुद्ध चेतना का निर्माण आध्यात्मिक ग्रथों के अध्ययन से ही हो सकता है।

इसलिये प्रत्येक बुद्धिमान व्यक्ति को साध्य सन्तुष्टि के साथ आध्यात्मिक जीवन-विकास के निमित्तभूत आध्यात्मिक ग्रथों का श्रवण अध्ययन तथा परिशीलन अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर करना चाहिये। इसमें यदि आप एक घटे भर भी

लगे रहते हैं तो इसके द्वारा बाकी के तेबीस घटों की आध्यात्मिक खुराक आपको मिल सकती है। स्वाध्याय से मूल को यदि आप सुरक्षित कर लेते हैं– आन्तरिक शक्ति को सतत जागृत बनाये रख सकते हैं तो टहनियों तथा पत्तियों तो अपने आप सुरक्षित बनकर हरी-भरी रह सकेगी। लेकिन केवल टहनियों और पत्तियों को सुधार दिया याने कि बाह्य जीवन के सशोधन पर ही ध्यान दिया तो वह केवल बाह्य सशोधन ज्यादा समय तक टिक नहीं सकेगा क्योंकि उसका मूल तो आन्तरिक जीवन होता है। आन्तरिक जीवन की वास्तविक विकास इस दृष्टि से मूलत अनिवार्य है।

जीवन साधना की दृष्टि से आन्तरिक तत्त्वो को छूने वाले तथा आध्यात्मिक भावों को उत्प्रेरणा देने वाले ग्रथों की स्वाध्याय दिनचर्या का नियम बन जाना चाहिये। यद्यपि वे अक्षर हैं तथा अक्षर अपने आप बोलते नहीं है तथापि आन्तरिक शक्ति के चिन्तन में वे अक्षर उतरेंगे और निपुण बुद्धि से सबद्ध बन जायेंगे तो वे ही अक्षर अन्त करण में सत् चित् एव आनन्द स्वरूप आत्मा की सर्वोच्च अवस्था को प्रकाशमान बना देंगे।

आज की युवा पीढ़ी अपने स्वस्थ विकास के लिये चिन्तित है। उसकी प्रतिभा विकसित हो रही है उसके अन्दर उमग है उत्साह है तथा वे युवक अपनी जिन्दगी में कुछ कर गुजरना चाहते हैं। उनकी अपनी जिज्ञासाएँ हैं परन्तु इसके साथ ही उनको सही मार्गदर्शन की आवश्यकता भी है। उनको श्रेष्ठ सहयोगी मिलें तथा उनको श्रेष्ठ ग्रथ उपलब्ध कराये जाय फिर उनको स्वाध्याय की ओर मोड़ा जाय ताकि वे ही स्वय अध्ययन और चिन्तन करके अपने विकास की दिशा का निर्णय करें। यदि युवा पीढी अपने स्वस्थ विकास का– अपने आन्तरिक सशोधन का आध्यात्मिक मार्ग पकड लेती है तो फिर सारे राष्ट्र का तथा राष्ट्र के भविष्य का श्रेष्ठ निर्माण करने में कोई बाधा नहीं रहेगी। इसलिये श्रेष्ठ एव निपुण बुद्धि के विकास के लिये स्वाध्याय की नियमित वृत्ति सभी को बनानी चाहिये तथा युवा पीढ़ी को स्वाध्याय के प्रति विशेष रूप से आकर्षित किया जाना चाहिये।

निपुण बुद्धि का विकास सभी चाहते हैं परन्तु सही माध्यम नहीं पकडते हैं

सभवत यह तो सभी चाहते होंगे कि उनकी बुद्धि का विकास हो तथा वह विकास निपुणता–युक्त हो परन्तु उनमें से बहुत ही कम ऐसे व्यक्ति मिलेंगे जो उसका सही माध्यम पकड पाते हों। यदि वस्तुत निपुण बुद्धि का विकास करना है तथा आत्म शुद्धि की और आगे बढना है तो श्रेष्ठ ग्रथों की प्रतिदिन

कम से कम एक घटे के लिये स्वाध्याय का कार्यक्रम रखना चाहिये तथा उसमें अधिक से अधिक युवक उपस्थित रहें– ऐसी प्रेरणा देनी चाहिये। जो युवक भावी समाज के विधाता के रूप मे चमकने वाले हैं वे यदि अपनी आन्तरिक शक्ति का सचय करेंगे अनुशासनबद्ध होकर अपनी गतिविधियाँ चलायेंगे तथा अधिक से अधिक उत्तरदायित्व लेकर उसका योग्यतापूर्वक निर्वहन करना सीखेंगे तो उन के मन मस्तिष्क को भी उन्नति का सम्बल मिलेगा एव समाज के भविष्य को भी उत्साहवर्धक सम्बल प्राप्त होगा। जो नई उमग के साथ उभरना चाहते हैं उनको सही मार्ग पर आगे बढने के अवसर मिलने ही चाहिये। सही माध्यम उपलब्ध कराने से ही निपुण बुद्धि का विकास सम्पादित किया जा सकेगा।

वर्तमान में युवको का बहुतेरा समय सिर्फ बाह्य जीवन की समस्याओं को हल करने में ही निकल जाता है जिनमें आर्थिक आदि सभी समस्याओं का समावेश हो जाता है उसी मे से उनको यथोचित समय धार्मिक एव आध्यात्मिक योगदान के लिये निकालना चाहिये। युवकों में झूठी अहवृत्ति न बढे वे विनम्र बनें तथा उनमें सेवाभावना जागृत हो– इसके लिये सही उपाय सोचे जाने चाहिये क्योंकि प्रलोभन या विषमता की स्थिति रहे तो गुणशीलता के प्रति सच्ची लगन नहीं जगेगी। अमुक चीज मिले– अमुक पद मिले तभी काम करू– ऐसी लालसा उभरेगी तो ऐसी लालसा आत्म शुद्धि के पवित्र कार्य को भी व्यापार एव सौदेबाजी में बदल देती है। आत्मशुद्धि तथा प्रलोभन वृत्ति– ये दोनों साथ-साथ नहीं चल सकती हैं।

विनोबा जी बहुत बडे विद्वान हैं। उन्होंने अपनी शिक्षा प्राप्त करके एक दिन जितनी डिग्रियों के प्रमाण-पत्र उनके पास थे– उन सबको उन्होंने जला दिया। उनकी माता ने पूछा– यह क्या किया तो उन्होंने उत्तर दिया ये सब सर्टिफिकेट मेरे जीवन के लिये बाधक हैं। अब मैं स्वय अपनी शक्ति से योग्यता प्राप्त करूगा। यह युवकों के लिये एक प्रेरणा का उदाहरण हो सकता है कि बुद्धि के स्वस्थ विकास के लिये आत्म शुद्धि एव आत्म शक्ति की प्राप्ति आवश्यक है।

बुद्धि के सदुपयोग से ही सभी क्षेत्रो मे उन्नति समव

निपुण बुद्धि का विकास किया जाय तथा उसका सर्वत्र सदुपयोग किया जाय तभी न सिर्फ आध्यात्मिक क्षेत्र में बल्कि बाह्य जीवन के सभी क्षेत्रों मे भी उन्नति समव हो सकती है। बुद्धि का सदुपयोग होता है तभी जीवन विकास की

कला हाथ में आती है। इस कला को प्राप्त करने की आकाक्षा प्रत्येक मानव की होनी चाहिये। आप समझलें कि यह प्रेरणा तो युवकों में ही जागृत हो सकेगी हम तो बुजुर्ग हो गये हैं। किन्तु मैं पूछता हूँ कि आप बूढे कैसे हो गये ? अब तक आपने क्या कर लिया ? इस जिन्दगी को विषय कषायो में डालकर तुष्टि मान ली लेकिन आपकी जिन्दगी में नैतिक तरुणाई यदि नहीं आई तो बुढापा क्यों आ गया ? जब तक जीवन में वास्तविक रूप से चारित्रय बल नहीं पैदा होता है तब तक अपने को तरुण समझते हुए साध्य की ओर लगे रहिये।

आज सभी क्षेत्रों में जो विषमता व्याप्त हो रही है उसके मूल में आध्यात्मिक साधना का ही अभाव है क्योकि बिना आध्यात्मिक साधना के बुद्धि का विकास और सदुपयोग होता नहीं तथा उसके बिना किसी भी क्षेत्र में उन्नति समव होती नहीं है। भौतिक सम्पत्ति को प्राप्त करने के पीछे आज मनुष्य के मन में जो पागलपन जगा हुआ है वही बुद्धि को मलिन तथा विश्रृखल बनाये हुए है। और इस विश्रृखल बुद्धि के ही दुष्परिणाम है कि सामाजिक क्षेत्र में कई कुरीतियॉ बराबर चल रही हैं तथा कई कुरीतियॉ पनपती भी जा रही हैं। दहेज प्रथा को ही लीजिये जो भूत की तरह सिर पर सवार हो रही है। धन की लालसा आज इतनी बढ गई है कि जितना पैसा बटोर लें उतना ही अच्छा है। कमाई के जरिये बढाते रहते हैं। ब्याज से या दूसरे निमित्त से पैसा इकटठा करने की लगी रहती है। लडका बडा हो गया और पढ लिख गया तो मानों वह भी पारस पत्थर बन गया है। पहले के जमाने में लडकियों के पैसे लेते थे तो आज दहेज के रूप में लड़कों के पैसे लेने लगे हैं। क्या मानव जीवन बिकने के लिये है ? प्राचीनकाल में महाराज हरिश्चन्द्र के जमाने में मनुष्य बिकता था। घास का पूला सिर पर रखकर स्वय हरिश्चन्द्र बिके थे। बाद में यही प्रथा दास प्रथा के नाम से चली और उसे मानवता विरोधी प्रथा मानकर समाप्त की। अब यह लडकों का बिकना क्या उसी प्रथा के समकक्ष नहीं है ? घास का पूला सिर पर नहीं रखा जाता लेकिन तिलक और दहेज के जरिये यह नीलामी का नया तरीका ही तो है। यह तरीका छिपा हुआ है तथा इस के साथ झूठी शान जोड दी गई है। हालत यह हो गई है कि किसी से पैसा ज्यादा मिल जाय तो अपने गुणवान् पुत्र को कुलक्षणी कन्या से जोड लेने में भी माता पिता को हिचकिचाहट नहीं होती है। इस प्रकार चादी के टुकडों के लिये कितनी कन्याओं को बरबादी की ओर धकेला जा रहा है तथा कितने गरीब माता पिता कर्जो के बोझ के नीचे दबाये जा रहे हैं-- यह सारी स्थिति अतीव चिन्तनीय है।

यह बुद्धि का विपर्यास है। लेकिन अब भी सद्‌बुद्धि जागृत होनी चाहिये कि इस प्रथा को अपने ही विवेक से समाप्त कर दें। यह न हो कि सरकार का

डडा पडे और फिर विवश होकर यह कुप्रथा छोडनी पडे। लेकिन बुद्धि जब तक दुर्बुद्धि बनी रहती है तब तक जागृति होनी मुश्किल दिखाई देती है। यहाँ तो सरकार कानून बना दे तब भी उसमें गालियाँ निकालने की चाले सोची जायगी लेकिन ध्यान कि यह पतन का रास्ता है। विवेक से ही बुराइयों को छोड सकें और स्वेच्छा से त्याग लेलें– वह बुद्धिमता का रास्ता होगा। बुद्धि का सदुपयोग करने का अभ्यास डालिये ताकि सभी क्षेत्रों में उन्नति साधने के सुअवसर उत्पन्न हो जाये।

सद्बुद्धि जागृत करे ताकि सर्वत्र नैतिकता पनपे

बुराइयाँ किसी एक क्षेत्र में ही नहीं फैली हुई है बाह्य जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में वे बढ़ रही हैं। इस का दुष्परिणाम यह हो रहा है कि कहीं भी नैतिकता नहीं ईमानदारी नहीं सच्चरित्रता नहीं। पैसे के लिये आदमी कुछ भी करने को तैयार हो जाता है। व्यापारी में ईमानदारी घट रही है तो अफसर मे रिश्वतखोरी बढ रही है। स्वर्गीय आचार्य श्री जब सोजत में विराज रहे थे तब एक गरीब व्यापारी ने किसी से किसी चीज के बारह आनों की बजाय साढ़े बारह आने ले लिये। यह बात कन्ट्रोल के वक्त की है। जब अफसर को मालूम हुआ तो उसको हिरासत में रखा तथा मुकदमा चला कर उस पर पचास रुपये का दड हुआ। तब आचार्य श्री ने सोजत निवासियों को पूछा कि इन अफसर की नौकरी करने से पहले कैसी आर्थिक स्थिति थी ? लोगों ने बताया कि तब एक टाईम खाने के भी लाले पड़ते थे और आज थोड़े से दिनों की सर्विस में बगला बन गया है कार आ गई है और पैसा अनाप शनाप बढ गया है। आचार्यश्री ने आश्चर्य व्यक्त किया। एक बड़ा चोर साहूकार और वह मामूली से चोर को बड़ा दड दे रहा है– यह नैतिकता का कैसा स्तर हो गया है ?

अगर इस अनैतिकता को समाप्त करनी है तथा सर्वत्र नैतिकता पनपानी है तो सद्बुद्धि को जागृत बनाने के सिवाय अन्य कोई मार्ग नहीं है। यह नहीं है कि समाज में सद्बुद्धि कहीं नहीं है। कई नैतिक पुरुष भी हैं तथा सद्बुद्धि का प्रयोग करके क्लेश मिटाने की चेष्टा भी करते हैं। एक सत्य घटना याद आ गई है। एक स्थल पर लक्ष्मीचन्द जी मुरादिया नाम के बडे व्यापारी थे जो अपना सारा व्यापार पूर्ण नैतिकता के साथ ही चलाते थे। उन्हीं के मोहल्ले में एक अन्य परिवार रहता था जिसमें दो भाई थे। उनके बीच में पैसे को लेकर क्लेश पैदा हुआ और वे बटवारे पर आ गये। सब चीजों का बटवारा हो गया लेकिन एक

सुन्दर अगूठी के लिये दोनों अड़ गये। प्रत्येक भाई अगूठी ही लेना चाहता था कोई भी कीमत लेने को तैयार नहीं हुआ। उस पर उन दोनों भाइयों को बीच में भयकर क्लेश बढ गया। मुरादियाजी को यह अच्छा नहीं लगा। उन्होने वैसी की वैसी अगूठी अपने पास से बनवाई। उस अगूठी को लेकर वे बड़े भाई के पास पहुँचे और पूछा क्या आप कीमत नहीं लेंगे ? अगूठी ही लेंगे ? उसने कहा– अगूठी ही लूगा। वह अगूठी उसे देकर बोले– यह अगूठी लो लेकिन कहीं बाहर पहिन कर मत जाना नहीं तो छोटा भाई क्लेश करेगा। वह मान गया। फिर छोटे भाई को भी यही पूछा और उसे उनके घर की अगूठी ही दे दी और बाहर कहीं पहिनने को मना कर दिया। उनके घर की अगूठी पहले समझाईश नहीं बैठने के कारण उन्होंने अपने पास रखली थी।

लम्बे अर्से बाद दोनों भाइयों ने अगूठियाँ पहनी और कहीं एक जगह दोनों मिल गये। दोनों को बड़ा आश्चर्य हुआ कि एक की बजाय दो अगूठियाँ कहाँ से आ गई ? तब पता चला कि यह दोनों भाइयों के क्लेश को मिटाने के लिये मुरादिया जी ने त्याग किया था। ऐसे भी नैतिक पुरुष हैं जो त्याग करते हैं लेकिन उसका डका नहीं पीटते। यह सद्‌बुद्धि की जागृति का रूपक था।

मैं अमरावती से रतलाम पहुँचा वहाँ एक व्याख्यान में दहेज की कुप्रथा मिटाने का मैंने उद्‌बोधन दिया तो गेंदालाल जी खाबिया ने दहेज लेने का त्याग कर लिया जबकि उनके लडके को अस्सी हजार का दहेज देने को लोग तैयार थे। इस रूप में सद्‌बुद्धि भी लोगों में है । इसको व्यापक रूप से जगाने के विशाल प्रयासों की अवश्य आवश्यकता है।

निपुण बुद्धि के जागरण मे युवा पीढी आगे आवे

निपुण बुद्धि के जागरण में आज की युवा पीढी आगे आवे और यह सोच ले कि हमको और कुछ नहीं चाहिये– सिर्फ चाहिये तो सेवा चाहिये मानव जाति का सुधार चाहिये आत्मिक उपलब्धि चाहिये। इसके लिये वह स्वय आध्यात्मिक जीवन की साधना अपना कर अपने जीवन का निर्माण करें– अपनी बुद्धि को निपुण बनावे समाज और परिवार को सुधारे तथा राष्ट्र के लिये आदर्श उपस्थित करें।

युवा पीढी इस गहन उत्तरदायित्व को अपने कधों पर ले ले तो भविष्य सुन्दर बनाया जा सकता है।

नोखा
१० १० ७६

□□□

4

दर्शन की सच्ची अभिलाषा

अभिनन्दन जिन दर्शन तरसिये
दर्शन दुर्लभ देव।
मत मत भेदे रे जो जई पूछिये
सह थापे अहमेव।

यह अभिनन्दन प्रभु की प्रार्थना है। प्रभु की प्रार्थना करते हुए जब अन्तरात्मा में परमात्म स्वरूप को देखने की प्रबल जिज्ञासा जागृत होती है तब दर्शन की प्यास उग्र बनती है। वह दर्शन की प्यास से लालायित हो उठता है कि किस प्रकार वह निराकार को अपने ही भीतर देखे तथा उसके आनन्दमय स्वरूप की झलक प्राप्त करे।

दर्शन की जब सच्ची अभिलाषा दृढ़ीभूत बनती है तो वह दर्शनार्थी विह्वल हो उठता है और श्रद्धा एव विनम्रता से विगलित हो जाता है। जब अभिलाषा अन्त करण से उठकर सच्ची हो तथा वह सच्ची अभिलाषा भी अलौकिक स्वरूप के दर्शन की हो तो उस समय की उत्सुकता निराली ही होती है।

दर्शन क्या और दर्शन कैसे ?

दर्शन का अर्थ देखने से है। देखना दो तरह से होता है। एक देखना तो इन बाहर की चर्म-चक्षुओं से याने कि चमड़े की आखों से और दूसरा देखना ज्ञान चक्षुओं से याने कि अन्दर की आखों से। इन चर्म-चक्षुओं से जगत् के स्थूल पदार्थ ही दृष्टि में आते हैं अत इन बाह्य नेत्रों से तो इन्हीं पदार्थों का दर्शन

किया जा सकता है। परन्तु सम्यक ज्ञान एव सदाशयी आन्तरिकता की दिव्य शक्ति जब विकसित होती है तो उस शक्ति के माध्यम से दृश्य एव अदृश्य– स्थूल तथा सूक्ष्म सभी पदार्थ और तत्त्व अपने यथार्थ स्वरूप के साथ दृष्टिगत बन जाते हैं। उस दिव्य दृष्टि के सामने दूरी का भेद भी समाप्त हो जाता है। बहुत दूर रहने वाले तत्त्व भी जैसे समीप में ही हो उस रूप में दिखाई देते हैं बल्कि दिव्य दृष्टि के सम्पूर्ण विकास के पश्चात् तो समग्र वस्तु स्वरूप वाला सारा ससार हाथ पर रखे आवले की तरह अतीव सुस्पष्ट रूप में दिखाई देता है।

यह दिव्य दृष्टि यह समीपता की अनुभूति एव यह आन्तरिक ज्ञानमयता इसी आत्मा से उदभूत होती है। इन शक्तियो के सृजन करने का सामर्थ्य इसी आत्मा में है। यही आत्म स्वरूप जब विशुद्धता एव विराटता की अवस्था को प्राप्त होता जाता है तो इसी स्वरूप में से ये शक्तियाँ प्रस्फुटित होती हैं। इसलिये कवि ने अभिनन्दन भगवान् की स्तुति करते हुए सकेत दिया है कि हे भगवान् मेरी आत्मा आप के दर्शन की प्यासी हो रही है– दर्शन के लिये तरस रही है।'तरस' शब्द का प्रयोग वहीं किया जाता है जहाँ आध्यात्मिक तिलमिलाहट हो। दर्शन के लिये जब ऐसी तिलमिलाहट पैदा हो जाती है तभी परमात्म स्वरूप के भीतर ही भीतर दर्शन होते हैं। यह स्वरूप और किसी का नहीं अपनी ही आत्मा का पूर्ण विकसित स्वरूप होता है। दर्शन के तिलमिलाहट से दर्शन का पुरुषार्थ प्रारम्भ होता है और दर्शन के लिये जो आन्तरिक आकुलता होती है वह इस पुरुषार्थ को किसी भी अवस्था में डिगने नहीं देती है तथा लक्ष्य तक पहुँचाकर ही छोडती है। ऐसा होता है दर्शन का भीतरी आनन्द जो सर्वत्र व्याप्त होकर भीतर बाहर चारों ओर आनन्द ही आनन्द की वर्षा कर देता है।

दरस की तरस
और सेठ सुदर्शन का साहस

ग्रीष्म ऋतु में जिसे तेज प्यास लगी हो और उसका कठ सूख रहा हो उस वक्त उस प्यासे व्यक्ति से कोई कहे– अरे भाई पानी क्या माग रहा है ? ले तू घी पीले। तो क्या वह प्यासा व्यक्ति घी पीना पसन्द करेगा ? उससे कहा जाय कि पानी की कीमत लगेगी– एक लोटा भर पानी के एक हजार रुपये। यदि अन्यत्र पानी की उपलब्धि नहीं है तो वह हजार रुपये देकर भी एक लोटा भर पानी ही पीना चाहेगा। पानी की प्यास जिस प्रकार आकुल-व्याकुल बना

देती है उससे कई गुनी अधिक प्रभु के दर्शन के लिये जगी हुई प्यास याने 'दरस की तरस' आत्मार्थी व्यक्ति को विह्वल कर देती है। वह आत्मा अन्य सब कुछ भूल जाती है और प्रभु दर्शन की प्यासी बन जाती है।

भगवान् महावीर जिस समय राजगृही नगरी के बाहर पधारे उस समय किसी नगरवासी का यह साहस नहीं हुआ कि वह अपने घर से बाहर निकल कर भगवान् के दर्शन करने के लिये जावे। कारण उस समय अर्जुनमाली का उपद्रव चल रहा था। यक्ष अर्जुनमाली की काया में प्रविष्ठ हो गया था और उससे उत्तेजित बना वह हाथ में मुद्‌गर लेकर नगर के चारों और घूम रहा था और प्रतिदिन छ पुरुष व एक नारी की हत्या कर रहा था। उसके भय से कोई नगरवासी अपने घर से भी बाहर निकलने की हिम्मत नहीं कर पा रहा था।

किन्तु भगवान् के आगमन का समाचार जब सेठ सुदर्शन ने सुना तो उनके मन में 'दरस की तरस' जाग उठी। वह इतनी उग्र बन गई कि वे दर्शन एव वाणी श्रवण हेतु भगवान् के समीप जाने के लिये तैयार हो गये। परिवार वाले अर्जुनमाली के भय से उन्हें रोकने लगे लेकिन दर्शन की प्यास ने उनके सारे भय को भगा दिया और सुदर्शन निर्भय होकर अपने स्थान से एकदम अकेले निकल पड़े।

सुदर्शन सेठ नगर के बाहर निकले ही थे कि अर्जुनमाली अपना लौह मुद्‌गर घुमाता हुआ उन्हीं की तरफ दौडा। सकट सामने आ रहा था लेकिन सेठ के मन में यह विचार नहीं आया कि वे भगवान् के दर्शन करने क्यों निकले ? उनका मन निर्द्वन्द और निर्भय था– पश्चाताप का वहाँ प्रश्न ही क्या ? उनके मन का साहस तो कई गुना बढ़ गया कि यह उनकी परीक्षा है– उनकी दर्शन की प्यास की परीक्षा है। इस परीक्षा में उन्हें सफल होना है और भगवान् के समीप में जाकर उनके दर्शन करने हैं उनकी अमृतवाणी श्रवण करनी है। अर्जुनमाली का रौद्र रूप सामने देख कर भी उनके हार्दिक हर्षोल्लास में कोई कमी नहीं आई। वे वहीं निश्चिन्त ध्यानमग्न खड़े हो गये।

दर्शन करने की सुदर्शन सेठ की उत्कट भावना थी– वे मृत्यु भय से भी क्या डरते ? डरते और घबराते तो वे हैं जिनकी भावना कच्ची होती है। ऐसे लोग ऐसे समय पर पश्चात्ताप करने लग जाते हैं कि दर्शन के पीछे उन्होंने खतरा क्यों मोल लिया ? ऐसी विचारणा जागृति के अभाव में ही होती है। किन्तु दर्शन की अभिलाषा जिनकी सच्ची होती है उनका उद्देश्य परिपूर्ण भी बनता है– कोई भी सकट उनके अदम्य साहस के सामने ठहरता नहीं है। सेठ सुदर्शन के ऊपर आये हुए सकट के बादल भी छट गये। उस प्रभु भक्त पर वार करने

का यक्ष का प्रयास टूट गया और वह टूटा तो अर्जुनमाली की काया छोड़ कर भाग गया। उस परवश अर्जुनमाली को सेठ ने प्रतिबोध दिया– उसके हृदय में भक्ति की भावना जगाई और वे उसको भी अपने साथ में लेकर प्रभु के चरणों में पहुँच गये। यह सेठ सुदर्शन के सत्साहस का ही सुफल था कि अर्जुनमाली ने अपने आपको भगवान् के समर्पित कर दिया तथा उसी जन्म में अपना आत्म कल्याण साध लिया।

सेठ सुदर्शन की दर्शन की प्यास ऐसी अलौकिक थी कि उसके निमित्त से भय ही निर्भय बन गया– हत्यारा अर्जुनमाली प्राणियों का प्रतिपालक हो गया। सेठ सुदर्शन की दर्शन भावना के पीछे कितनी विपत्ति थी जिसकी उन्होंने कोई परवाह नहीं की। जीवन की आहुति देकर भी उन्होंने दर्शन की भावना पूर्ण करनी चाही तो उस सत्साहस के कारण एक पतित आत्मा को नया जीवन मिल गया।

दर्शन जड के करेगे
या चैतन्य के करना चाहेगे ?

सेठ सुदर्शन के समान ही कोई भी साहसी भक्त अभिनन्दन भगवान् के चरणों मे पहुँच सकता है। उसमें होनी चाहिये दर्शन की तीव्रता–दर्शन की विह्वल बना देने वाली प्यास। ऐसी प्यास आत्मा की आन्तरिकता में ही जागती है और अन्तर्दृष्टि ही उस प्यास की तृप्ति का मार्ग खोजती है। जितनी 'दरस की तरस' जागरूक बनती है उतनी ही उग्रता से आत्मवृत्तियाँ चैतन्य स्वरूप की तरफ गमन करती हैं। वे तब चैतन्य की शक्ति को पहिचानने लगती हैं और उसी का अनुसरण करने लगती हैं।

यह आत्मा चैतन्य स्वरूप होती है। वह जड़ से विलग है। जड के दर्शन करते-करते तो यह आत्मा अनादिकाल से ससार के भव चक्र में भ्रमण कर रही है और कष्ट भुगत रही है। जितने दृश्य पदार्थ हैं वे जड़ रूप हैं एव आत्मा विहीन यह शरीर भी जडभूत ही होता है। फिर भी यह आत्मा ससार के दृश्य पदार्थों के प्रति– अपने शरीर के प्रति भयकर ममत्व लेकर चल रही है। इन्हीं पदार्थों की प्राप्ति की तथा अपनी शारीरिक सुख सुविधा की ही वह कामना करती है लेकिन निज के ही चैतन्य स्वरूप को पहिचानने की तरफ उन्मुख नहीं बनती है। यही इसकी सुप्तावस्था है।

आप भी जड के दर्शन करेंगे या चैतन्य के दर्शन करना चाहेंगे ? जड के

दर्शन तो करते ही आ रहे हैं और उसके दुष्परिणाम आपके सामने हैं। अब तो चैतन्य के दर्शन करने की जिज्ञासा जगाइये। यदि ऐसी जिज्ञासा जगायेंगे और दर्शन की प्यास तीव्र बनेगी तो आत्मा और परमात्मा के अवश्य ही दर्शन कर सकेंगे। उत्कट भावना हो तो उसको अपने लक्ष्य तक पहुँचने में कोई भी बाधा रोक नहीं सकती है। क्या मृत्यु का भय भी सेठ सुदर्शन को भगवान् के दर्शनार्थ जाने से रोक सका ? आवश्यकता इस बात की है कि दर्शन की सच्ची अभिलाषा जागृत हो जानी चाहिये।

कई भाई सोचते हैं कि आजकल पचम काल चल रहा है और इस पचम काल में आत्मा और परमात्मा रूप चैतन्य के दर्शन कहाँ रखे हैं ? ऐसा सोचना अपने आप को कमजोर बनाना है-- अपने आप के जीवन को मद बनाकर जीवनी शक्ति को दबाना है। किसी व्यक्ति को मद भावना नहीं लानी चाहिये। सदा उत्साह और उमग की तरग व्याप्त रहे और यह विचार रहे कि इस जीवन में सजीवनी शक्ति भरी जाय। जितनी कर्मठता पैदा की जा सकती है उतनी पैदा की जाय। आत्मविकास के लिये जो कुछ किया जा सकता है वह पूरी निष्ठा के साथ किया जाय। जितना प्रभु के समीप पहुँचा जा सकता है तथा आत्म स्वरूप के दर्शन किये जा सकते हैं उतना इसके लिये यत्नशील बना जाय। यह मान लेना चाहिये कि प्रभु के दर्शन हमारे ही भीतर हैं। अभिनन्दन भगवान् के तुल्य हमारी आत्मा भीतर विराजमान है। चैतन्य स्वरूप के जो दर्शन हैं वे ही भगवान् के दर्शन हैं।

आत्म दर्शन की भावना बलवती बन जाय

हम अपनी ही आत्मा को जानें उसको उस के मूल स्वरूप से पहिचानें तथा भीतर गहरे उतर कर आत्म-दर्शन करें-- यह हमारी समग्र कर्मठता का प्रेरक लक्ष्य बन जाना चाहिये। यह ऐसा कार्य है जिसके लिये कहीं बाहर भागने दौड़ने की आवश्यकता नहीं है न ही इधर-उधर कष्ट करना है। इसके लिये तो आत्म दर्शन की भावना ही बलवती बन जानी चाहिये।

अन्त करण में आत्म-दर्शन की तीव्रता जाग उठे। इतनी तीव्रता कि प्राण जाय पर प्रण नहीं जाय। जो जीवन-उत्थान का सकल्प लिया जावे उस पर सुदेव सुगुरु सुधर्म में पूर्ण श्रद्धान रखकर अटल-अडोल रहा जाय। भयकर से भयकर विपत्ति आ जावे– कोई शरीर की त्वचा भी उतारने लगे शरीर के

टुकडे-टुकडे भी करने लगे तब भी संकल्प के आचरण में दुर्बलता नहीं आवे और वीतराग में आस्था तथा आत्मा-परमात्मा में निष्ठा दृढ़तर बनती जावे। इस प्रकार की दृढ़ता मानव जीवन में व्याप्त होती है तब वह मानव इस जीवन में भी निहाल हो जाता है तो उसका अगला जीवन भी पवित्र बन जाता है। ऐसी भावना प्रतिदिन जागृत की जाय– बलवती बनाई जाय। सन्त यदि भावना की पुष्टि करने वाले मौजूद हैं तो उनसे सम्पर्क साधा जाय एवं उनसे इस भावना की पुष्टि कराई जाय। प्रतिदिन सिंचित की जाने वाली भावना घनीभूत भी होती है तो फलवती भी बनती है। कदाचित् सन्त नहीं हो तो कम से कम एक घंटा भर समय निकाल कर इस तात्त्विक भावना को हृदय में रमाते रहना चाहिये।

बच्चा जब जन्मता है तो माता उसे बड़ा करने के लिये दूध पिलाती है। कितने दिनों तक दूध पिलाती है ? क्या दो चार दिनों तक ? और माता ऐसी बेपरवाही करे तो क्या बच्चा जीवित रहेगा ? जन्मते ही ज्यों-ज्यों बच्चा रोता है माता समझ जाती है कि यह दूध के लिये तिलमिला रहा है। वह तत्काल दूध पिलाती है और थोड़ा सा समय बीतता है कि वह फिर फिर दूध पिलाती है। मैं समझता हूँ कि एक ही दिन में कई वक्त दूध पिलाती है। इसलिये पिलाती है कि बच्चा अभी कोमल है और इस कोमल बच्चे को जीवित रखने तथा हृष्ट-पुष्ट बनाने के लिये दूध पिलाना निरन्तर आवश्यक है। माताएँ इतनी जागरूक रहती हैं तभी बच्चे का लालन-पालन सुन्दर रीति से हो सकता है। वैसे ही आप आत्म-दर्शन रूपी बच्चे को यदि बलवान बनाना चाहते हैं तो भावना की खुराक हर समय देते रहिये। यह मत सोचिये कि यह खुराक कितनी वक्त देवें ? जैसे माता बच्चे को कई वक्त खुराक देती है वैसे ही अन्तःकरण में आत्म-दर्शन के प्रति तीव्रता बनाने के लिये बार-बार परमात्मा की प्रार्थना कीजिये ध्यान और चिन्तन में रमिये तथा उस तीव्रता को वाचा में लाकर पुष्ट बनाइये। हर वक्त यह प्रक्रिया न भी चला सकें तो दिन में तीन चार बार और कम से कम एक बार तो ऐसा क्रम अवश्य चलावें जिससे बच्चा जीवित रह सके। बाकी प्रक्रिया को जितनी अधिक चलायेंगे आत्म-दर्शन की स्थिति उतनी ही जल्दी आवेगी।

संसार-दर्शन बहुत हो गया,
उससे अलग हटिये !

आत्म दर्शन तब तक नहीं होगा जब तक संसार दर्शन से अलग नहीं हटेंगे। इस आत्मा के लिये संसार दर्शन तो बहुत हो गया है– अनादिकाल से

मोहमाया की लालसाऐं प्रवल वेग से चलती आ रही हैं। यह शरीर यह परिवार, यह धन ऐश्वर्य यह पद विलास यह सत्ता भोग अब तक इस आत्मा का आकर्षण केन्द्र बनकर उसे व्यामोहित बनाता रहा है। इन लालसाओं ने गरीब अमीर का भेद बनाया पैसे को सिर पर चढाया तथा विषय-कषाय की ज्वालाऐं सुलगाई। अच्छे भले दीखने वाले आदमी भी पूजी के लोभ मे पड़ जाते हैं। चाहे कोई अनाथ है और उसके पास से कोई वस्तु लेनी है तो ठग कर लेने की कोशिश करेंगे। कोई विधवा है वज्रपात से दबी हुई है और वह विश्वास करती है कि अमुक व्यक्ति उसकी सहायता करेगा लेकिन वही व्यक्ति सोचता है कि अच्छा हुआ इसकी सहायता के बहाने से इस की पूजी हड़पली जाय-- इसके बाल बच्चों को भुलावे में डालकर इसके व्यापार पर कब्जा कर लिया जाय। यह सोचकर वह मायावी ढग से लेन देन की वस्तुओं को दबा लेता है।

जानते हैं ऐसी कुत्सित वृत्तियाँ क्यों पैदा होती हैं तथा क्यों आत्मा ऐसे दुराचरण में प्रवृत्ति करती है ? यह आत्म-दर्शन की भावना एव पुष्टि के अभाव के कारण होता है। ससार-दर्शन मे ही रमे रहने वाले व्यक्ति मानवता को भी खो देते हैं और परिग्रह एव परिग्रह की लालसाओं मे अपने को कुटिलतापूर्वक उलझा देते हैं। ससार दर्शन जड़ दर्शन है और जड को देखकर व्यक्ति का मानस भी जडीभूत बन जाता है। आत्मिक खुराक के अभाव में वह उपकार करने की बजाय अपकार कर बैठता है-- चाहे सारी जिन्दगी भर उसी से पला पोषा हो उसी की मदद से वह काम धधे में लगा हो वही मालिक अचानक मर जाय तो उसी के घर की वह भक्षक बनने के लिये तैयार हो जाता है। यह कृतघ्नता की जघन्य अवस्था होती है। मानवता का ऐसा पतन इसी कारण सभव होता है कि ससार-दर्शन को ही इस जीवन में प्रमुखता देकर गति की जाती है एव चैतन्य को भुला दिया जाता है। कोई चेतना शून्य बन जाय तो उसका प्रत्येक कार्य अधा ही तो होगा। इसलिये ससार दर्शन से अपनी ममत्व दृष्टि हटाइये उस दृष्टि को समत्व की धवलता से उज्ज्वल बनाइये और फिर आत्मदर्शन की भावना को जगाइये-- तब देखिये कि उसी दृष्टि में कैसी दिव्यता उत्पन्न हो जाती है ?

ससार दर्शन में विमुग्ध बनने वाले प्राणी जड़ भक्त हो जाते हैं और जड़ पदार्थो के लोभ में कुछ का कुछ कर डालते हैं और यही वितृष्णा आत्म-दर्शन के पथ में सबसे बड़ी बाधा बन कर खड़ी हो जाती है तथा चेतना शक्ति को पराजित कर देती है।

आत्म-दर्शन नही तो पतन की कोई सीमा भी नहीं

जिस व्यक्ति के जीवन में चेतना नहीं आत्म दर्शन की भावना नहीं तो समझिये कि उसके पतन की भी कोई सीमा नहीं। ससार दर्शन में जब वह मतवाला बन जाता है तो नैतिकता के सामान्य नियमो को भी वह तिलाजलि दे देता है और निकृष्ट अमानवीय कार्यो में प्रवृत्त हो जाता है।

एक दृष्टान्त स्मरण मे आ गया है। एक बड़े करोड़पति सेठ के घर का प्रसग है। सेठ जब जागता तो उसकी निगाह सब आत्माओं की ओर रहती। विशेष करके उसका ध्यान गरीबों की ओर था। वह अपनी पूजी से गरीबों का उपकार करने की भावना रखता था। किसी के सकट में सहायता करता किसी अनाथ को अपने साथ व्यापार में लगाता तो हरेक जरूरतमन्द की उसकी जरूरत के मुताबिक मदद करता। एक बार ऐसा ही गरीब व्यक्ति उसके पास आया तो सेठ ने उसको अपने यहाँ मुनीम रख लिया। उसने दो ढाई सौ वेतन मागा तो सेठ ने उसके परिवार का विवरण पूछ कर चार सौ रुपया वेतन तय किया क्योंकि इससे कम में उसका निर्वाह नहीं हो सकता था। मुनीम को उसने यह जरूर कहा कि वह काम पूरी ईमानदारी से करे। मुनीम भी ईमानदारी से काम करता रहा और सेठ उसकी तरक्की करता रहा। उसको बडा मुनीम बना दिया। अब सारा व्यापार काम काज बडे मुनीम के हाथ में था और अन्य व्यापारियों पर भी उसकी धाक जम गई थी। सेठ भी उसकी योग्यता से काफी निश्चिन्त हो गया था। उसको इस बात का सन्तोष था कि एक गरीब व्यक्ति के विकास मे वह सहायक बना।

सयोग की बात है कि अचानक सेठ का देहान्त हो गया। सेठानी विधवा होकर घर में अकेली रह गई। लेन देन काफी था। अब बडे मुनीम के मन में बदनीयत जागी कि अब ठीक मौका है थोडी ईमानदारी को दर किनार रखकर अपने को सेठ सरीखा धनवान बना लेना चाहिये। बस पूजी की लालसा जागी तो वह पापी और विश्वासघाती बन बैठा। वसूलियाँ करके अपने घर में रखता रहा और सेठानी से कहता रहा– क्या करू सेठ साहब नहीं रहे तो आसामी ही बेईमान हो रहे हैं– कर्जा वापिस चुकाने में टालमटोल कर रहे हैं। सेठानी ने मजबूर होकर कहा– आप कोशिश करके वसूल करिये और उसमें से आपकी इच्छा हो तो आप मुझे दे देना बाकी आप रख लेना। मुनीम ने उस बात की सेठानी से लिखा पढी करा ली। फिर दस लाख की वसूली करके सेठानी

अपने को

बोला– यह दस हजार आप ले लो। सेठानी दग रह गई कि इतना ईमानदार मुनीम इतना बेईमान हो गया। वह दुखी हुई और न्यायाधीश के पास गई। न्यायाधीश को उसने सारी स्थिति बताई कि जिस अनाथ गरीब को सेठजी ने सहारा देकर ऊँचा उठाया वही आज एसा विश्वासघाती और बेईमान बन गया है। तब न्यायाधीश ने सेठानी को आश्वस्त किया और मुनीम को बुलवाया। उन्होंने मुनीम को पूछा– क्या आपने समी आसामियो से सेठजी का बकाया रुपया वसूल कर लिया है ? मुनीम ने कहा– हाँ साहब। न्यायाधीश ने कहा कि आपका सेठानी के साथ यही वायदा था कि उस वसूली में से जितनी आपकी इच्छा होगी आप सेठानी को देंगे और बाकी आप रखेंगे। इस पर भी मुनीम ने हाँ भरी। मुनीम ने सेठानी के दस्तखत वाला इकरार भी न्यायाधीश को दिखाया। न्यायाधीश ने पूछा– आपने कितनी वसूली की और उसमे से आपकी कितनी राशि अपने लिये रखने की इच्छा है ? मुनीम ने कहा– दस लाख की वसूली की है उनमे से नौ लाख निन्यान्वे हजार राशि की मेरी इच्छा है। तब न्यायाधीश ने कहा– इस लिखापढ़ी में यह लिखा है कि जितनी आपकी इच्छा हो वह राशि सेठानी को देनी बाकी आपको रखनी है। अब आपकी इच्छा नौ लाख नब्बे हजार की है तो वह राशि सेठानी को मिलेगी बाकी आप रखेंगे। आपकी लिखापढी के अनुसार ही यह मेरा फैसला है। मुनीम को अपनी बेईमानी का फल मिल गया।

अभिप्राय यह है कि केवल ससार-दर्शन करने वाला व्यक्ति अपने ही हाथों अपना अध पतन कर लेता है।

दर्शन की सच्ची अभिलाषा अवश्य पूर्ण होती है

ससार दर्शन से हटकर जो आत्म-दर्शन की ओर सम्पूर्ण निष्ठा से आगे बढ़ता है उसका सम्बल होता है परमात्म दर्शन। परमात्म स्वरूप के चिन्तन से इस आत्मा को उसका सही लक्ष्य प्राप्त होता है और आत्म-दर्शन की सच्ची अभिलाषा बनती है। सच्ची अभिलाषा के साथ उग्र पुरुषार्थ जागता है तथा उग्र पुरुषार्थ के बल से आत्मा की मलिनता दूर की जाती है। स्वच्छ आत्मा की अन्तर्दृष्टि दिव्य बन जाती है और यही दिव्य दृष्टि परमात्म स्वरूप की होती है। दर्शन की सच्ची अभिलाषा कभी अपूर्ण नहीं रहती।

नोखा
११ १० ७६

□□□

5

मद मे घेर्‌यो रे, अध केम करे ?

अभिनन्दन जिन दर्शन तरसिये
सामान्ये करी दरिशण दोहिलु
निर्णय सकल विशेष।
मद में घेर्‌यो रे अध केम करे
रवि शशि रूप विलेख।।

अभिनन्दन भगवान् के दर्शन की जिज्ञासा रखने वाले भव्य प्राणी अपनी आन्तरिक वृत्ति का सकेत कविता की कडिया में कर देते हैं और यह बतला देते हैं कि मैं अभिनन्दनीय तत्त्व के दर्शन की कितनी तीव्र अभिलाषा रखता हूँ।

आधुनिक युग में एक परिपाटी सी चला दी गई है कि अमुक-अमुक के सम्मान मे अभिनन्दन ग्रथ प्रकाशित किये जाते हैं। उनमें विभिन्न लेखक उस व्यक्ति के प्रति अपने-अपने विचार प्रस्तुत करते हैं। उनमें कितनी सत्यता होती है और कितना कुछ लिखाया जाता है– यह जानने वाले जानते हैं। वस्तुत इन प्रवृत्तियों का रूपक यथार्थता से हटकर कुछ अ-स्वाभाविक सा हो गया है। अभिनन्दन एक बहुत बडा सम्मान है और वैसा सम्मान उसके अधिकारी पुरुष को ही मिलना चाहिये।

अभिनन्दन के योग्य कौन होता हे ?

अभिनन्दन के योग्य कौन होता है तथा अभिनन्दन किसका होना चाहिये-- यह एक विचारणीय वस्तु विषय है। वही आत्मा अभिनन्दनीय मानी जानी चाहिये जिसमें निज स्वरूप को पहिचानने की पिपासा जाग उठी हो स्वय

अपने को समझें

की शक्ति को प्रकट करने की सच्ची अभिलाषा बन गई हो तथा आत्म-दर्शन से परमात्म-दर्शन के मार्ग पर अग्रगामी बनने की उत्कठा दृढीभूत हो गई हो। जो परमात्मा के स्वरूप को स्व-स्वरूप में देखने का प्रयत्न करता है तथा स्व-स्वरूप को परमात्म-स्वरूप के समकक्ष बनाने की बलवती भावना बना लेता है वही इस सम्मान का अधिकारी कहलाता है। अभिनन्दन भगवान् की प्रार्थना करके जो स्वय भी अभिनन्दन बनना चाहे उसे ही आप अभिनन्दनीय मानिये।

वास्तविक अभिनन्दन उस परमात्मा के तुल्य बनने की प्रबल भावना वाली आत्मा का हो न कि उससे भिन्न तत्त्व का। लेकिन दुनिया भी ऐसी मायावी है कि वह अच्छे तत्त्वों को भी दुरगा रूप दे देती है। असली घी होता ही है तो इस दुनिया ने वनस्पति घी भी बना डाला। जितने श्रेष्ठ पदार्थ दुनिया में होते हैं या आते हैं लोग उनके साथ वैसा ही नकली पदार्थ बनाने की तैयारी तुरन्त कर लेते हैं। अपने इसी मायावी व्यवहार पर वे अभिमानी भी हो जाते हैं। यह अभिमान यह अह उनकी बाहरी और आन्तरिक वृत्तियों में भी इस तरह घुल मिल जाता है कि उनके मनमस्तिष्क का सन्तुलन बना नहीं रहता। मान के मद में डूब जाने के बाद वह परमात्मा की प्रार्थना के योग्य भी नही रह जाता है। जो व्यक्ति अहवृत्ति से घिर जाते हैं वे अपनी योग्यता का सही मूल्याकन भी नहीं कर पाते हैं। जो वे नहीं हैं वे यह समझ लेते हैं कि वे वैसे हैं। उस समझ के पीछे उनका मान होता है उनकी योग्यता नहीं होती।

इस ससार में अपूर्ण व्यक्ति ही अधिक हैं तथा जितने अपूर्ण व्यक्ति हैं वे किसी न किसी विषय कषाय की वृत्ति से आच्छादित रहते हैं और उनमें आत्मा तथा परमात्मा के स्वरूप को समझने की अभिरुचि कठिनाई से ही जागती है। वह आच्छादन ही उसकी अपूर्णता का सबसे बड़ा कारण होता है। विषय-कषाय के ऐसे आच्छादना में अह वृत्ति अभिमान या मद का आच्छादन मनुष्य को अधा बना देता है। 'मद में घेर्यो रे अध केम करे' अर्थात् मद से घिरा हुआ व्यक्ति अधा कैसे करता है वैसा करने लग जाता है। अधापन आखों का आच्छादन ही तो होता है-- मद के उन्माद में अन्तर्चक्षु खुल नहीं पाते हैं। इसी दृष्टि से अभिनन्दन के योग्य उन व्यक्तियों को ही माना जाता है जो विषय-कषाय के सारे आच्छादनों को दूर करने के लिये सन्नद्ध हो जाते हैं तथा सक्रिय बन कर कार्य सम्पादन में जुट जाते हैं।

पूर्णता की अवस्था

अपूर्ण व्यक्ति कैसा होता है ?

वास्तविक दृष्टि से सोचा जाय तो एक अपूर्ण व्यक्ति न तो पूर्ण पुरुष की तरह सत्य को देख सकता है न सत्य का कथन कर सकता है। जहाँ अपूर्णता रहती है वहाँ अयोग्यता भी होती है तो अज्ञान एव असामर्थ्य भी होता है। पूर्णता की अवस्था अरिहत देव की होती है या सिद्ध भगवान् की होती है। उस अवस्था में ज्ञान पूर्ण दृष्टि पूर्ण तो उन का आनन्द भी पूर्ण होता है। अपूर्ण आत्मा में जब जागृति होती है तब उसकी गति पूर्णता की दिशा में ही अग्रसर बनती है।

पूर्ण का यदि अपूर्ण व्यक्ति अनुसरण करता है तो एक दिन वह भी पूर्णता प्राप्त कर सकता है लेकिन जब तक वह अपूर्ण रहता है तब तक पूर्ण पुरुष की वाणी को पूर्णतया हृदयगम नहीं कर पाता है। आशिक रूप से हृदयगम करते-करते ही जब वह भी पूर्णता प्राप्त कर लेता है तभी उसकी वस्तु स्वरूप की पूर्णता उसके ज्ञान पथ में स्पष्ट बनती है। एक एम ए पास अध्यापक का अनुभव क्या प्रथम कक्षा का छात्र सही तरीके से विश्लेषित कर सकता है ? एम ए का कैसा अनुभव होता है– यह एम ए उत्तीर्ण कर लेने पर ही विदित हो सकेगा। वह भी तुलनात्मक दृष्टि से परिपूर्ण रीति से बता सकेगा या नहीं– यह व्यक्तिगत योग्यता पर निर्भर करता है। फिर जहाँ परमात्मा की अद्वितीय शक्ति एव अभिनन्दनीय गरिमा की अनुभूति लेना क्या अपूर्ण व्यक्ति के वश की बात होती है ? उसके वश की बात भी हो सकती है यदि वह सही लक्ष्य के साथ पुरुषार्थ करे तथा पूर्णता के सोपानों पर चढने का क्रम बनावे।

कवि ने शास्त्रीय दृष्टि से इसका थोडा सा विवेचन किया है। शास्त्रकारों ने प्रत्येक वस्तु के दो प्रकार के धर्म माने हैं। वैसे तो वस्तु अनन्त धर्मात्मक होती है अर्थात् उसका अनेक तरह का स्वभाव रहता है। इन अनन्त धर्मो एव स्वभावों को दो विभागों में विभक्त कर के जान सकते हैं। एक सामान्य रूप में तथा एक विशेष रूप में। सामान्य दृष्टि से जिस रूप में तत्त्वों का ज्ञान किया जाता है उससे उन तत्त्वों अथवा वस्तु स्वरूप की जानकारी पूरी नहीं होती है। उदाहरण के तौर पर किसी व्यक्ति को देखकर इतना मात्र सामान्य रूप से कह दें कि यह मनुष्य है तो उससे उसका विशेष परिचय नहीं होता है। यह मनुष्य है– यह सामान्य बात है। लेकिन कैसा मनुष्य है किस नाम से पुकारा जाता है किस देश या नगर का निवासी है कौन सी वृत्ति वाला है किस भावना में बहने वाला है आदि-आदि तरीके से जब तक उसके बारे में विशेष जानकारी नहीं तो उस

व्यक्ति के बारे में जानकारी पूरी नहीं होती है।

सामान्य से विशेष की ओर एव अपूर्णता से पूर्णता की ओर गति करना ही स्वस्थता का परिचायक होता है। यह मनुष्य है– इस सामान्य ज्ञान से आगे बढ़ते हैं तब ज्ञात करते हैं कि यह गृहस्थाश्रम में रहने वाला गृहस्थी है अथवा आत्म साधना करने वाला साधु ? वह साधु है अथवा साध्वी ? कहीं तीर्थकर ही तो नहीं ? आखिर तीर्थकर भी मनुष्य तो होते ही हैं। यह भी जानने का विषय हो सकता है कि वह सम्यकदृष्टि है अथवा मिथ्यादृष्टि ? कहने का अभिप्राय यह है कि सामान्य ज्ञान के बाद विशेष ज्ञान की अभिरुचि बनती है तथा अपूर्णता से पूर्णता की ओर गमन किया जाता है। ज्ञान की पूर्णता के साथ वस्तु स्वरूप को पूर्णतया जान सकते हैं तो शक्ति की पूर्णता का विकास भी सम्पूर्ण बन जाता है।

सामान्य से विशेष ज्ञान की ओर
अपूर्णता से पूर्णता की ओर

सामान्य ज्ञान के पश्चात् विशेष ज्ञान से ही यह ज्ञात किया जा सकेगा कि मनुष्य भिन्न-भिन्न देशों और नगर ग्रामों के रहने वाले होते हैं तथा भिन्न-भिन्न वृत्तियों वाले होते हैं। उनमें से जो साधु के गुणों को अगीकार करके चलते हैं वे साधु कहलाते हैं। उनका साधु वेश अन्य मनुष्यों के वेश से भिन्न होता है। साध्वियों का भी अपना वेश होता है। श्रावकों में भी अन्य मनुष्यों से गुण सम्बन्धी विशेषताऍ होती है। इस प्रकार मनुष्य में साधारण एव विशेष दोनों प्रकार के धर्म होते हैं परन्तु विशेष धर्म से ही मनुष्य का निर्णयात्मक परिचय हो पाता है।

कवि ने भी यही सकेत दिया है– 'सामान्ये करि दरिशण दोहिलू' अर्थात् सामान्य ज्ञान से 'ईश्वर है' इतना मात्र जाना जा सकता है लेकिन इतने मात्र ज्ञान से उसके स्वरूप का दर्शन नहीं हो सकता है। कवि उद्‌बोधन देते हैं कि यदि तू सामान्य ज्ञान से ईश्वर का दर्शन करना चाहता है तो उनके दर्शन इन चर्म चक्षुओं से करना चाहता है अथवा अन्तर्दृष्टि की सहायता से करना चाहता है ? दिव्य ज्योति का दर्शन करना है तो वह दिव्य दृष्टि से ही होगा और उसके स्वरूप का विशेष ज्ञान से विश्लेषण किया जायगा तो ही ईश्वरत्व का समग्र निर्णय लिया जा सकेगा। समझिये कि एक व्यक्ति जो जन्मान्ध है उससे कहें कि सूर्य और चन्द्र की दशा का वर्णन करो तो क्या वह बता सकेगा ? जिस

जन्मान्ध ने सूर्य चन्द्र को कभी देखा नहीं वह सूर्य और चन्द्र का ज्ञान दूसरों को कैसे करवायगा ? वह सुनी हुई जानकारी किसी को बता सकता है लेकिन स्वय की अनुभूति का ज्ञान नहीं करा सकता है।

यहाँ अन्ध की उपमा जिसको दी गई है उसको ज्ञानी जन ने कहा है–

मद मे घेर्‌यो रे
अधो किम करे ?

अध इसलिये नहीं कहा कि उसके नेत्र बन्द हैं यानी वह अनुभवहीन है। लेकिन जब कोई नशा करले और तेज नशा करले तो उस समय उसके नेत्र और अनुभव होते हुए भी जैसी उसकी अधता की दशा हो जाती है वैसी ही दशा किसी भी प्रकार के मद से उन्मत्त बनी आत्मा की हो जाती है और उस अधता की दशा में वह सूर्य चन्द्र के समान परमात्म स्वरूप का दर्शन करने में अयोग्य होता है। उस मद का नशा उसके अज्ञान के आच्छादन को हटने नहीं देता है। बाहर के मद से बाहर की आखें नशे से कुछ नहीं देख पाती तो भावों के मद से अन्दर की ज्ञान दृष्टि अध बनी रहती है। इसे ही मदान्धता कहते हैं।

इस मदान्धता को दूर करके ही मनुष्य सामान्य ज्ञान से विशेष ज्ञान की ओर तथा अपूर्णता से पूर्णता की ओर प्रगतिशील बन सकता है।

मदान्धता की दशा
दृष्टि की अधता

ज्ञानी जनों का कथन है कि जिस आत्मा के ऊपर मोह और मद का चश्मा चढ जाता है उसकी आन्तरिक वृत्तियों में नशा सा छा जाता है और एक तरह का गहरा पागलपन पैदा हो जाता है। वह चाहे बाहर का नशा मदिरा आदि ग्रहण नहीं करता लेकिन मोह और अहवृत्ति का मद उसके मन और मस्तिष्क को अभिमान से भर देता है तो बाहर शरीर में भी उसके कारण अकड समा जाती है। बाहर से नशा नहीं लिया पर भीतर बाहर नशा छा जाता है। मदान्धता की दशा में दृष्टि भी अधी बन जाती है।

मद आठ प्रकार के बताये गये हैं। जातिमद कुलमद धनमद बलमद बुद्धिमद आदि। जाति मद से भी मनुष्य अधा हो जाता है। अपने को उच्च जाति का मानकर दूसरों को नीची जाति का कहता है और उनके साथ उपेक्षा तथा अवमानना का व्यवहार करता है। बलमद से भी अधापन आता है। बली मनुष्य किसी का अपमान करते हुए परवाह नहीं करता क्योंकि वह अपने शरीर बल से

किसी को भी प्रताडित कर सकता है। बुद्धिमद तो मनुष्य को दीवाना अधा बना देता है। वह समझता है कि दुनिया की डेढ अकल उसी में है और जो कुछ वह कहता है सोलहों आने सही ही कहता है। बुद्धि की शक्ति पाकर मनुष्य का नियत्रण मे रह पाना बडा कठिन हो जाता है। बुद्धिमद तो पाखों पर उड़ता है। बुद्धिमद से वही मतवाला बनता है जिसने अक्षर तो पढ लिये लेकिन जो अक्षरों के गूढार्थ में प्रवेश नहीं कर सका। कहते हैं कि पढा लेकिन गुणा नहीं। बिना गुण की शिक्षा मदान्धता की कारण बन जाती है।

शिक्षा विद्या या ज्ञान का मद मनुष्य को उच्छृखल और उद्दड बना देता है। उसकी सोचने और बोलने की शक्ति बढ जाती है लेकिन वह उस शक्ति का सदुपयोग नहीं कर पाता है। वाचा की योग्यता का उपयोग वह कुतर्क प्रस्तुत करने में करता है और समझता है कि मेरे समान कोई ज्ञानी नहीं है। यह मद जिस पर छा जाता है समझिये कि दीर्घकाल तक वह नशा उतरता नहीं है। चाहे कितना ही बडा विद्वान क्यों न हो– चाहे वह आत्मा और परमात्मा के स्वरूप का सूक्ष्मतम विश्लेषण क्यों न कर सकता हो ज्ञानमद से ग्रस्त बन कर वह स्वय आत्म दर्शन या परमात्म दर्शन नहीं कर सकता है।

मद के समान भ्रान्ति भी पथ का अवरोध होती है

कोई यह भी सोचे कि मैं परमात्मा को जानने को अभिलाषा तथा दर्शन की प्यास रखता हू, लेकिन किससे पूछू और कैसे दर्शन कर पाऊ– बडी विचित्र बात दिखाई देती है। परमात्मा के दर्शन दूर रहे– जहाँ स्वय के जीवन के दर्शन भी नहीं कर सकता हू, वहाँ क्या कुछ हो सकेगा ? कभी-कभी इस रूप में पुरुष भ्रान्ति से भी भ्रमित हो जाता है। मद के समान भ्रान्ति भी आत्म दर्शन के पथ का अवरोध होती है। भ्रान्ति के वशीभूत होकर मनुष्य इतना भ्रमित हो जाता है कि वह वस्तु स्थिति का निर्णय ही नहीं कर पाता है।

भ्रान्ति का प्रसार कैसे होता है– यह आप जानते ही हैं। बाजार में चलते हुए किसी ने कहा दिया– आपने सुनी नहीं– यह ऐसी बात हो गई है। सुनने वाले ने अधूरी सुनी और कुछ अपनी तरफ से मिलाकर आगे कर दी। उस अगले व्यक्ति ने भी कुछ अधूरी सुनी और अपनी ओर से रग मिला कर बात को आगे बढ़ा दी। ऐसा करते-करते विचित्र दृश्य खडा हो जाता है।

एक बडे शहर में जीमणवार का प्रसग था। पहले के जमाने में जीमणवार

में चौखले (आसपास के) के गावों को भी न्यौता देते थे अगर जीमणवार करने वाले की शक्ति हो सरकार की कोई रोक नहीं थी। वह एक पूजीपति की जीमणवार थी। पहले जीमणवार की आज्ञा पचों से लेनी पड़ती थी। उसने पचों को बुलाया। पचों ने पूछताछ की। उसने कहा– मैं लापसी बनाऊगा और देशी घी की बनाऊगा– डालडा नहीं वापरूगा। उसने आज्ञा प्राप्त कर ली और सबको जीमने के लिये नोत लिया।

उसी शहर में एक दूसरा सेठ था उसको जब न्यौता मिला तो वह दवा ले रहा था जिसमें गुड खाने की मनाही थी और लापसी गुड की थी। वह घर के बाहर खडा रहा ताकि उधर से वैद्यजी से निकले तो पूछ ले। थोड़ी देर बाद वैद्य जी उधर से जाते हुए दिखाई दिये लेकिन वे बहुत जल्दी में थे। उसने अपने लिये पूछा तो उन्होंने दूर से ही कहा– लापसी जहर और वे आगे निकल गये। उसने अर्थ लगाया कि लापसी में जहर मिला हुआ है और वैद्य जी ने उसको बचाने के लिये सूचना दे दी है। उसने भी अपने बाल बच्चों को रोक दिया तथा अपने सभी सगे सम्बन्धियों को भी सूचना करवा दी। हरेक बात को आगे से आगे चलाता रहा। इस तरह एक भ्रान्ति सभी तरफ फैल गई। सब कपड़े पहन कर तैयार थे और जीमण का बुलावा भी आ गया लेकिन भ्रान्ति से सभी भ्रमित बने हुए थे।

जब जीमने के लिये कोई नहीं आया तो सेठ स्वय बुलाने के लिये घूमे। वह आग्रह करता तो लोग यही कहते– कोई बात नहीं। लेकिन फिर भी जीमने कोई नहीं आया। सेठ ताज्जुब में पड गया कि इतना देशी घी का माल बनाया लोग कुछ कहते नहीं और आते नहीं यह क्या बात है ? उसने पचों को इकट्ठा किया और उनके सामने सारी बात रखी। पच भी इधर-उधर करने लगे– आखिर एक पच ने जो भ्रम फैला हुआ था– वह बता दिया। पता लगाना शुरू किया कि बात कहाँ से उठी ? वैद्य जी को बुलाया गया उन्होंने स्थिति स्पष्ट की कि मैंने तो उस सेठ के लिये कहा था कि वह दवा ले रहा है सो लापसी उसके लिये जहर होगी। फिर पहले वैद्यजी जीमने बैठे भ्रम मिटा तब सब लोग जीमने लगे।

इस तरह भ्रम–भ्रान्ति भी मनुष्य को किंकर्त्तव्यविमूढ बना देती है। वह न यह कर सकता है न वह कर सकता है। उसकी दशा त्रिशकु जैसी हो जाती है। मद में मनुष्य अनिर्णय में नहीं पडता विपरीत निर्णय करता है लेकिन भ्रान्ति में वह अनिर्णय की स्थिति में हो जाता है।

दर्शन का तार्किक मार्ग
नय और निक्षेप का विधान

सात नय और निक्षेपों का विधान शास्त्रकारों ने बहुत ही भव्य तरीके से किया है। इसको समझने वाला जब तक पूरी सावधानी और बारीकी से नहीं समझे तब तक वह इसकी गूढ़ता को समझ नहीं सकता है। विशेष लगन के साथ समझने पर भी बड़ी कठिनाई होती है।

नय सात प्रकार के कहे गये हैं। पहले नय वाला केवल दर्शन के विचार से दर्शन कर लेता है। किसी के मन में दर्शन करने की भावना पैदा हो रही है– दर्शन की भावना लेकर वह सामने गया और अग झुकाकर तथा माथा नवा कर वह दर्शन में तृप्ति मानता है।

दूसरे नय वाला कहता है कि तुमने मात्र भावना भाई-- अभिनन्दन भगवान् के दर्शन की बात कही लेकिन यह तुम्हारी बात ठीक नहीं है। एक अभिनन्दन भगवान् ही क्यों– जितने भी भगवान् हैं चाहे वे अवसर्पिणी काल की चौबीसी के हों चाहे पूर्वकाल के अनन्त तीर्थंकर हो या चाहे वर्तमान काल में महाविदेह क्षेत्र में विचरण करने वाले सभी तीर्थंकर हो और सिद्ध अवस्था में जितनी आत्माएँ विराजमान हैं वे सभी अभिनन्दनीय हैं। सभी के दर्शन की बात तुम नहीं कह रहे हो इस कारण तुम्हारी बात गलत है। इसलिये यह कथन सही है कि सभी भगवान् अभिनन्दनीय हैं तथा उन सबके दर्शन करने हैं। यह दूसरे नय वाला पहले नय वाले के कथन को मोड़ देकर अपनी बात कहता है।

तीसरे नयवाला बतलाता है कि तुम्हारा कथन भी ठीक नहीं है। सब भगवान् के दर्शन की बात कह दी लेकिन जब तक सबका स्वरूप समझ में नही आवेगा तब तक दर्शन कैसे होंगे ? उनके स्वरूप को समझने के लिये तीर्थंकरों का ज्ञान भी तुम्हें करना होगा। भविष्य की चौबीसी के बारे में चिन्तन अभी नहीं करना है और महाविदेह क्षेत्र में जन्म की स्थिति के साथ चिन्तन करते हैं तो सबके प्रतीक का विश्लेषण करके दर्शन का रूपक उपस्थित किया जा सकता है। इस तरह से तीसरा अपनी बात कहता है।

चतुर्थ नय वाला कहता है कि दर्शन है क्या ? दर्शन की बात तुम सब कर रहे हो लेकिन वर्तमान में एक भी तीर्थंकर भरत क्षेत्र के इस भूमंडल पर नहीं है तो उनके दर्शन कैसे करोगे ? इसलिये पहले की तीनों व्यक्तियों की बात ठीक नहीं है। यदि दर्शन करने हैं तो वर्तमान में महाविदेह क्षेत्र में तीर्थंकर

उपस्थित हैं उन्हीं के दर्शन किये जा सकते हैं– शर्त यह है कि वहॉ पर पहुँचा जा सके।

पाचवें नय वाला लेकिन बोलता है कि नहीं नहीं– वे तीर्थकर तो बहुत दूर हैं। उनके दर्शन के पीछे सारी जिन्दगी गवा दोगे तो भी उनके दर्शन नहीं हो सकेंगे। जब जिन्दगी ही सुरक्षित नहीं रहेगी तो दर्शन कैसे होंगे ? इसलिये ये कथन गलत है।

छठे नय वाला कहता है कि दर्शन कहॉ करते हो ? इन बातों को पकड़ोगे तो भी दर्शन नहीं होंगे तथा इन बातों को छोड़ोगे तो भी दर्शन नहीं होगे। इसलिये दर्शन के लिये दर्शन शब्द की व्युत्पत्ति को देखना है। 'दृश्यते इतिदर्शनम्' अर्थात् जिससे देखा जाय वह दर्शन है। नेत्रों से देखा जाता है इसलिये नेत्र दर्शन है। बाह्य नेत्रो की स्थिति सुरक्षित नहीं रह सकती है इसलिये आन्तरिक नेत्रों से देखा जाय तो दर्शन होंगे वरना पीछे के पाचों नयो के अनुसार जो बातें कही गई हैं वे दर्शन के योग्य नहीं हैं।

तब सातवें नय वाला आता है और कहता है कि तुम कहते हो वह भी पूरी बात नहीं है। अन्तर्चक्षुओं से देखेंगे– यह तो सही है लेकिन उस प्रक्रिया को करते हुए जब तक पूर्ण तल्लीनता नहीं आवेगी तब तक दर्शन नहीं होंगे। दर्शन पूर्ण तल्लीनता के साथ ही हो सकेंगे।

इस प्रकार किसी भी वस्तु स्वरूप को उसकी सभी अपेक्षाओं से देखते हुए उसकी वास्तविकता का सही विश्लेषण किया जा सके– यही नयवाद का शुद्ध अभिप्राय है। यह विश्लेषण जिस तर्कसगत चर्चा से उद्‌भूत होता है वही नय और निक्षेप का विधान है।

सातो नयो की सहायता से सभी तर्को का निचोड

तर्क और श्रद्धा दोनों की सहायता से वस्तु स्वरूप का ज्ञान किया जाता है। तर्क बुद्धि से उत्पन्न होता है तो श्रद्धा भावना का विषय होती है। तर्क एकागी होता है और अगर उसके साथ 'कु' जुड जाता है तो तर्क हठी भी बन जाता है। तर्क के साथ 'सु' जोड़कर ही वस्तु स्वरूप को यथावत् पहिचान सकते हैं। नयवाद इस रूप में सुतर्क की सर्वागीण प्रक्रिया है। सातों नयों की सहायता से सभी प्रकार के तर्को का निचोड निकल जाता है तथा उसमें से सार रूप वस्तु स्वरूप प्रकट हो जाता है।

यों देखें तो सातों नयों के तर्क लम्बे चौड़े होते हैं और ऐसा लगता है कि यह तो बडा भारी विवाद खडा हो गया है। यही कारण है कि नयवाद को साधारण बुद्धि द्वारा समझ पाना बडा कठिन होता है। सातों नयो के लम्बे चौड़े तर्को को अभी आपके समक्ष इसीलिये प्रस्तुत नहीं कर रहा हूँ कि उनकी सूक्ष्मता में आप उलझ जायेंगे। इन नयों की गति दुर्लभ है। कवि ने पहले ही सकेत दे दिया है कि यह दुर्गम कथन है। आनन्दघन जी जैसे व्यक्ति भी जिनकी आध्यात्मिक रस में गहरी पहुँच थी इन नयों के स्वरूप को समझाने में कठिनाई महसूस कर रहे थे अत जिनकी आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रविष्ठि भी नहीं हुई हो उनको तो इनका स्वरूप दुर्गम लगेगा ही । श्रवण करने का भी यदा कदा प्रसग आता है तो मैं उनको नयवाद की जटिलता में डालता हूँ लेकिन मुझे महसूस होता है कि उसको अनुसरण करने की स्थिति नहीं रहती है। इसलिये सक्षेप में इतना ही कह रहा हूँ कि सातों नयों को यथास्थान समझ कर एक दूसरे का आश्रय लेकर एक दूसरे का तिरस्कार नहीं करते हुए सातों नयों को एक समन्वित रूप में देखकर वस्तु स्वरूप की खोज करनी चाहिये।

नयवाद की ही प्रक्रिया से दर्शन का मार्ग खोजेंगे तो भगवान् के दर्शन भी होंगे। एक-एक नय को पृथ्क रूप में पकड़ेंगे या एक-एक नय का तिरस्कार करेंगे तो हाथ में कुछ नहीं आयगा। सातों नयों के कथनों का समन्वय किया जाना चाहिये। सातों के बीच तर्को का आदान प्रदान इसलिये होता है कि उन तर्कों में से वास्तविक स्वरूप उभर कर ऊपर आ सके। नयवाद अपने विचारों की उलझन को दूर करने का तर्क सगत मार्ग है लेकिन अगर कोई तर्को को कुतर्को में पलट दे और कुतर्को की पकड करले तो वह इस नयवाद में उलझ जाता है–उल्टे उसकी मति विभ्रम बन जाती है तथा स्वरूप को विकृत दृष्टि से देखा जाने लगता है। सातों नयों की सहायता से तो सभी तर्को का निचोड़ निकाला जाना चाहिये तथा उस सारगर्भित निचोड़ से वस्तु स्वरूप का सही दर्शन किया जाना चाहिये।

कुतर्क करने लगेगे तो उलझन मे पड जायेगे

नयवाद के तर्को को कुतर्कों में बदल कर कभी-कभी वस्तु स्वरूप के विकृत दर्शन से ससार में उलझनें पैदा कर दी जाती हैं और तब यह कुतर्कवाद दुर्भाग्यपूर्ण बन जाता है। कई बार भद्रिक लोग कुतर्को के जाल में फस जाते हैं तब बुद्धिमान व्यक्ति कुतर्को में फसाने वालों को ठीक रास्ते पर लाने के लिये

उन्हीं के हथियार से तर्क देकर उनको समाहित करते हैं। उससे भद्रिक लोग अपने मन को भी कुतर्कों के जाल से मुक्त बनाते हैं। इस सम्बन्ध में नन्दी सूत्र में एक छोटा सा रूपक आया है कि किस प्रकार कुतर्की को उसी के हथियार कुतर्क से काट कर उसकी तार्किकता को सही रूप दिया गया।

एक भाई की आर्थिक स्थिति बहुत कमजोर थी कारण उसकी पुण्यवानी हल्की थी और उसके अन्तराय कर्म का बध अधिक था। लोग उसको पुण्यहीन कहते थे। जानते हैं पुण्यहीन किसको कहते हैं ? आपकी लौकिक भाषा में आप पुण्यहीन उसको कहते हैं जिसके पास धन की कमी होती है। आप दूसरी पुण्यवानी को कम देखते हैं कि उसको मनुष्य जीवन मिला है हो सकता है कि उसका आचरण अच्छा हो– वह नैतिकता के साथ चलता हो लेकिन लौकिक दृष्टि पैसे को ही प्रधानता देती है। खैर वर्षा हुई तब उस भाई ने सोचा कि कुछ खेती करलू ताकि खाने के लिये अन्न पैदा हो जाय। खेती करने के लिये उसको बैलों की जरूरत हुई जो उसके पास नहीं थे। वह पड़ौसी से बैल माग कर खेत पर ले गया। खेत को हाक कर शाम को बैल वापिस पडौसी के यहाँ छोड़ने गया तब पड़ौसी दरवाजे के सामने बैठा भोजन कर रहा था। उसने देख लिया कि बैल पहुँच गये हैं। उस भाई ने भी पड़ौसी को उधर देखते हुए और भोजन करते हुए देख लिया सो बैलों को यथास्थान बाध कर बिना पड़ौसी से बोले वह अपने घर लौट गया।

सयोगवश बाद में एक दूसरा आदमी वहाँ आया और बाड़े का दरवाजा खुला छोड़कर चला गया। खुले दरवाजे से बैल बाहर निकल गये और रात को कोई चोर उन्हें ले भागा। पडौसी ने सुबह बाड़े में देखा तो बैल नहीं थे। उसने सोचा कि बैलों को वह भाई लाकर बाध गया था– यह मैंने देखा था लेकिन वह मुझे मुह पर कहके नहीं गया सो उसको ही क्यों नहीं पकडू ? पडौसी उसके मकान पर गया और बोला– मेरे बैल कहाँ हैं ? उसने कहा मैं खुद बैलों को आपके वहाँ बाधकर आया और आप यह देख रहे थे। पड़ौसी ने कहा– जैसे तुम मुझसे माग कर ले गये थे वैसे तुमने बैल मुझे कब सम्भलाये ? इसलिये बैलों की जिम्मेदारी तुम्हारी है। बैल बाड़े में नहीं है और उनकी कीमत तुमको मुझे चुकानी पडेगी।

उसने कैसा तर्क लगाया ? यह सुतर्क है या कुतर्क ? यह तो उस गरीब आदमी को जान-बुझकर सताने की बात थी। वह पड़ौसी उस भाई को साथ लेकर इन्साफ कराने के लिये दरबार की ओर रवाना हुआ। रास्ते में सामने से एक घुडसवार आ रहा था। घोड़ा कुछ चमका और घुडसवार को उसने नीचे गिरा दिया। घोड़ा भागने लगा तो घुड़सवार चिल्लाया मारो मारो-मार कर

पकडो। उस गरीब भाई ने देखा कि इसने कहा है तो इसका काम कर दू। उसने एक पत्थर उठा कर घोडे की तरफ फैंका। सयोग की बात कि वह पत्थर घोड़े के मर्मस्थल पर लगा और घोड़ा गिर कर मर गया। तब उस घुडसवार ने कहा– तुमने मेरे घोडे को क्यों मारा ? इसकी कीमत मैं तुमसे वसूल करूगा। बैलवाले के साथ घोडे वाला भी हो गया और तीनों दरबार की तरफ चले।

दरबार दूर था और शाम पड़ गई सो तीनो एक वृक्ष के नीचे विश्राम करने लगे। तभी एक नट मडली वहाँ आ गई। नट भी वृक्ष के नीचे सो गये। गरीब भाई को नींद नहीं आई– वह सोचने लगा कि बैल और घोड़े की कीमत मुझसे चुकेगी नहीं सो मर जाना ही ठीक है। उसने सोचा कि कपड़े से फासी लगा कर मर जाउ। उसने वृक्ष पर चढ़ कर कपड़ा एक किनारे से डाली से बाधा और दूसरे किनारे से अपने गले को बाध कर वह झूल गया। कपडा पुराना था सो फट गया और वह धम से नटों के सरदार पर गिर पडा। वह ऐसा गिरा कि सरदार की मौत ही हो गई और वह बच गया। सब जग गये– हो हल्ला मच गया। अब दरबार के लिये नट लोग भी साथ हो गये।

न्याय का काम राजकुमार ही किया करते थे। दरबार में पहुँच कर तीनों ने गरीब भाई के विरूद्ध अपनी-अपनी फरीयाद रखी। गरीब भाई– सच्चा आदमी था– जिस कुतर्क के साथ फरियादें रखी गई वह उस को मानता रहा। राजकुमार समझ गया कि यह गरीब आदमी सच्चा है और मुसीबत में फसा दिया गया है। इन लोगों के कुतर्क को अब कुतर्क से ही काटना पड़ेगा।

राजकुमार ने बैल वाले से कहा– यह तुम्हारे बैलों की कीमत तो देगा लेकिन तुम्हें अपनी आखें इसको देनी पड़ेगी। तुम्हारी आखों ने बैलों को देखा और स्मृति के माध्यम से अभी भी देख रही है। तुम इसके मुह की बात ही मानना चाहते हो तो पहले अपनी आखें निकाल कर रख दो। बैलों की कीमत तुमको यह भाई नहीं दे सकेगा तो दरबार से मिल जायगी। बैल वाला यह सुनकर सन्न रह गया बोला– मुझे कीमत नहीं चाहिये श्रीमान्।

राजकुमार ने तब घोड़े वाले को पूछा– घोडे को इसने तुम्हारे कहने पर मारा या बिना कहे मारा ? उसने कहा– मैंने जान से मारने का थोड़े ही कहा था ? राजकुमार ने फैसला दिया– ठीक है तुम भी अपनी जीभ दे दो घोड़े की कीमत मिल जायगी। वह भी बिना कीमत लिये चला गया। फिर बारी आई नटों की। राजकुमार ने कहा– इस भाई के ऊपर से गिरने की बात समझ में नहीं आई तुम्हारे में से कोई उसी तरह गिर कर बतावे तो पता चले। नट घबराये कि किसी एक की और जान जायगी। ये भी चले गये।

तो इसमें हेतु तो लगाया और तर्क से ही राजकुमार ने तीनों को शान्त

किया लेकिन यह कुहेतु या कुतर्क था और ये कुतर्क उनके कुतर्को को काटने के लिये थे। लोहे से लोहा कटता है– यह ठीक है परन्तु कुतर्क में पडने से उलझन बढती है और सुतर्क के साथ चर्चा करने से सदा ही कुछ न कुछ सार ही निकलता है।

जैसे दही को मथने से मक्खन निकलता है वैसे ही जिज्ञासा भाव से अगर किसी वस्तु स्वरूप पर चर्चा की जाय– विचारों का आदान प्रदान किया जाय तो उससे सारभूत तत्त्व प्रकट होता है। नयवाद इस प्रकार के मथन की एक परिपुष्ट प्रणाली है कि स्वरूप के सभी पक्षों को लक्ष्य करके परिपूर्ण चर्चा कर ली जाती है जिससे जिस विचार में जितना सत्याश मिले उसे ग्रहण कर लिया जाय। यह कार्य सुतर्क के आधार पर ही सम्पादित किया जा सकता है।

कुतर्क से कदाचार
सुतर्क से सत्य का साक्षात्कार

तर्क को छैनी या टाकी के रूप में मान सकते हैं जो अनगढ पत्थर को सुघड़ बना देती है। एक व्यक्ति का ज्ञान जब दूसरे के साथ तर्कपूर्ण चर्चा के रूप में आदान-प्रदान से गुजरता है तो इस ज्ञान में सुघड़ता पैदा होती है तथा विचार शक्ति एव दृष्टि पैनी बनती है। यही तर्क जब मदान्धता हठ या दुराग्रह के कारण कुतर्क का रूप ले लेता है तो वह कदाचार बढाता है। सदा ही कुतर्क से मिथ्यावाद का पोषण होता है। इसके विपरीत जिज्ञासा भाव से जब सुतर्को के साथ कोई ज्ञान-चर्चा की जाती है तो जैसे खलिहान में भूसे को उडाकर शुद्ध गेहू प्राप्त कर लिया जाता है वैसे ही उस ज्ञान चर्चा में से सारभूत तत्त्व उद्भूत हो जाता है। इस प्रकार सुतर्क के माध्यम से सत्य का साक्षात्कार हो सकता है।

'सु' और' 'कु' में पूर्व पश्चिम का अन्तर आ जाता है। तर्क शक्ति वही है लेकिन एक उसका सदुपयोग होता है तो दूसरा उसका दुरुपयोग । कवि का यही कथन है कि कुतर्क के वशीभूत होकर ससार के प्राणी आत्म परिणति के तत्त्व को समझने के लिये तैयार नहीं होते हैं– कुतर्क के जरिये वे ज्ञान का खिलवाड करते हैं– यह तर्क शक्ति का दुरूपयोग है। नयवाद को भी ऐसे लोग विकृत रूप दे देते हैं। सुतर्क के साथ चलना बडा कठिन होता है लेकिन शुद्ध नयपूर्ण सुतर्क के माध्यम से ही सत्य का साक्षात्कार हो सकता है तो भगवान् के दर्शन भी किये जा सकते हैं।

नोखा
१३ १० ७६

□□□

7

आपत्तियो के सामने अटल आस्था चाहिये।

अमिनन्दन जिन दर्शन तरसिये
दर्शन दुर्लम देव।
मत मतमेदे रे जो जई पूछिये
सहु थापे अहमेव ।।

जिज्ञासु भव्य आत्मा जब अपने मूल स्वरूप को प्रकट करने का अन्त करण पूर्वक सकल्प बना लेती है तो उस सकल्प को सिद्ध करने के लिये उसे पुरुषार्थ का बल लेकर आग बढ़ने की आवश्यकता रहती है। सकल्प दृढ विचार और निश्चय होता है तो उसकी क्रियान्विति पुरुषार्थ की सहायता से ही हो सकती है। जब सकल्प और पुरुषार्थ के रूप में दो शक्तियाँ सयुक्त हो जाती है तो वह आत्मा निर्भीक बन जाती है। सकल्प सिद्धि के मार्ग में कितनी ही आपत्तियाँ क्यों न आवें– वह आत्मा अपने लक्ष्य से किसी भी रूप में विचलित नहीं होती है क्योंकि उसे अपनी अटल आस्था का पूर्ण सम्बल होता है। श्रेष्ठ सकल्प अटल आस्था एव प्रबल पुरुषार्थ की त्रिपुटी मिल जाय तब आपत्तियो पर विजय पाना कठिन नहीं रहता है।

वस्तुत आत्म विकास के लक्ष्य को जीत लेना कठिन नहीं है। कठिन होता है उस विजय के अनुकूल आन्तरिक पृष्ठभूमि का निर्माण करना। इस त्रिपुटी की एक जुटता वाछित पृष्ठ भूमि का निर्माण कर लेती है।

सकल्प से प्रयाण होता है
पुरुषार्थ से गति मिलती है

आत्मोन्मुख साधक जब अपना दृढ सकल्प बना लेता है कि उसे अपने

मूल स्वरूप को प्राप्त करना है तो उस सकल्प की प्रबलता से वह आत्मविकास के पथ पर प्रयाण कर लेता है– चल पडता है। उस सकल्प के साथ जब पुरुषार्थ मिलता है तो साधक को उस पथ पर अग्रगामी बनने की गति प्राप्त होती है। वे साधक तब इस ससार रूपी अटवी के अन्दर अपनी गति को वेगवती बना कर चलने का प्रयास करते हैं और यही भावना रखते हैं कि वे शीघ्र से शीघ्र प्रभु के दर्शन करलें अर्थात् अपने आत्म-स्वरूप को प्रभु के परमात्म स्वरूप के समकक्ष ले जावें।

कल्पना करें कि दुर्गम पहाडियों के परले छोर पर स्थित भव्य नगर को देखने के लिये एक पथिक चल पड़ता है। उसका लक्ष्य है उस भव्य नगर तक पहुँचना तो यही उसका सकल्प होता है और सकल्प के बल पर ही वह प्रस्थान कर लेता है। प्रस्थान को पुरुषार्थ का श्री गणेश कह सकते हैं क्योंकि पुरुषार्थ ही सकल्प का अमली रूप होता है। ज्यों-ज्यो उसका पुरुषार्थ बल पकडता जाता है त्यों-त्यों वह अपनी चाल को तेज बनाता जाता है। उसके सामने पहाडियॉं होती हैं– साक्षात् आपत्तियों के समान– जिन्हे पार करके ही वह भव्य नगर में प्रवेश कर सकता है।

वह पथिक उन ऊँची-ऊँची पहाडियों की तरफ देखता है और पहाड़ियों के समीप पहुँचने लगता है तो उसका दिल सहमना शुरू होता है। वह आने वाले खतरों को सोचता है तो उन पहाड़ियों के भीतर होकर जाने में रूक सा जाता है। वह देखता है कि पहाडियों की थका देने वाली चढाई घने और बीहड़ जगलों की भयकरता तथा वन्य पशुओं की गर्जनाए उसके सामने है और क्या मालूम कि इन सारी आपत्तियों के बीच में उसका जीवन भी रहेगा या कहीं उसकी ही इतिश्री न हो जाय। कितनी तरह के जगली जानवरों से किस तरह सामना होगा– कौन जाने ? उसका मन आगे बढने से सहमता है।

मानसिक दुर्बलता के इन क्षणों में फिर सकल्प शक्ति सामने आती है और उसको ललकारती है कि जो उसने सोचा है क्या उसे वह पूरा नहीं कर सकेगा ? सकल्प शक्ति उस मानसिक दुर्बलता को दबाती है तब वह पथिक साहस जुटाता है और अपने पुरुषार्थ को सजग बनाता है। जाने की तमन्ना मजबूत होती है तो कोई साथी नहीं होने पर भी वह हिम्मत से आगे बढता है। वह सोचता है कि चलो मैं इष्टदेव का स्मरण करके आगे बढता हूँ। सकल्प और पुरुषार्थ की शक्ति उसे आगे बढाती है।

जब आपत्तियाँ आती हैं तो अटल आस्था पल्ला थाम लेती है

जो इष्ट देव का स्मरण करता है– वह अपनी आस्था का परिचायक होता है। यह आस्था जितनी सुदृढ होती है पथिक का साहस उतना ही सुदृढ बनता है और यह आस्था जब अटल बन जाती है तो पथिक भी अजेय हो जाता है। तब वह आपत्तियों को जीत लेता है– आपत्तियाँ उसे पराजित नहीं कर पाती हैं। जब सकल्प शिथिल होने लगता है और पुरुषार्थ मन्द बन कर साहस टूटने लगता है तब अमिट आस्था का सम्बल उस हारे थके पथिक का पल्ला थाम लेता है। वह फिर सन्नद्ध हो जाता है आगे बढ़ने के लिये और हिम्मत के साथ आगे चल पड़ता है क्योंकि उसे अनुभूति मिल जाती है प्रभु के दर्शन की एव अपनी ही आन्तरिक शक्ति की। उसकी अटल आस्था तब उसे आत्म-विकास के पथ पर से डिगने नहीं देती है।

वह अटल आस्था के साथ चल पड़ता है तो समझिये कि वह उस भयकर अटवी को सुरक्षित रूप से पार भी कर सकता है और उस भव्य नगर में अपने चरण रख सकता है। लक्ष्य पर पहुँचने के बाद उस अपूर्ण आनन्द का भी उसको अनुभव मिल सकता है जो अन्यथा सभव नहीं होता।

उस पथिक के समान ही कवि का सकेत इस प्रार्थना में साधक के लिये है। साधक सोचता है कि भगवन्, आप अपने सिद्ध स्वरूप में विराजमान हैं और सिद्ध स्थिति यहाँ से ऊपर है। बीहड़ जगल घाटियाँ तो इसी भूमडल पर रह जाती हैं लेकिन सिद्ध स्थिति तक पहुँचने के लिये भी बीच में बड़ी बीहड़ता है। परमात्मा के समीप पहुँचने के लिये उर्ध्व गमन करके ऊपर उठना होता है। आप सोचेंगे कि ऊपर जाने के लिये तो किसी न किसी वाहन की जरूरत पड़ेगी लेकिन ध्यान रखें कि वहाँ तक ले जाने वाला कोई वाहन नहीं है। अपनी यह आत्मा ही वाहन और वाहक दोनों होती है।

इस वैज्ञानिक युग में वैज्ञानिकों ने कुछ यन्त्र तैयार किये हैं। तथाकथित चन्द्र लोक पर मानव उतर चुका है। मगल ग्रह पर अभी मानव तो पहुँचा नहीं है लेकिन यत्रों के माध्यम से शोध का काम चल रहा है। ये रॉकेट ये अवकाश यान तथा आधुनिक यत्र भी मनुष्य को सिद्ध क्षेत्र तक पहुँचाने में सक्षम नहीं हैं क्योंकि मनुष्य यदि अधिक विकास करके और भी तीव्र गति वाले वाहन तैयार कर ले तो भी सूर्य मडल के समीप ही पहुँच पायगा। उससे आगे बढ़ने पर तो वह भस्म हो जायगा। सूर्य मडल से तो बहुत दूर ऊपर बारह देवलोक हैं– एक

दूसरे के ऊपर से ऊपर। फिर इसी तरह नौ ग्रेवेयक तथा उनसे ऊपर पाच अनुत्तर विमान हैं। इनके ऊपर एक विशाल शिला है जो औंधे छत्ते के आकार की है। यही वह स्थान है जहॉ सिद्ध आत्माएँ विराजमान रहती हैं।

इस तरह आत्म विकास यात्रा का लक्ष्य है यह सिद्ध शिला जहॉ पहुँचने के बीच में कर्मबध की भयावह आपत्तियॉं खड़ी हुई हैं। जिन्हें पराजित करना अटल आस्था से ही समव होता है।

विकास यात्रा मे बाहर दूर नहीं भीतर गहरे जाना है।

सिद्ध शिला के इस विवरण से हतोत्साहित होने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि तीर्थकर देवो ने भगवान् के दर्शन करने के लिये कहीं दूर तक भटकने की आज्ञा नहीं दी है और न यह कहा है कि आकाश में ऊपर उड़ो या पाताल के भीतर उतरो। यह भी नहीं कहा कि इस भूमडल के कोने-कोने में भटकते रहो तो भगवान् के दर्शन होंगे। उन्होंने तो सुगम किन्तु मार्मिक उपाय बताया है कि यदि तुम्हें सिद्ध भगवान् के तुल्य भगवान् के दर्शन करने हैं तो कहीं बाहर मत जाओ और शरीर को इधर उधर मत भटकाओ। जहॉ शरीर है वहीं पर नियमित रूप से सुखासन पर आसीन होकर इन्द्रियों के बाहरी व्यापार को रोक दो अर्थात् कान जो बाहर के शब्द सुन रहे हैं उन शब्दों के पीछे जो तुम्हारा उपयोग दौड रहा है कि ये किस के शब्द हैं कहॉ से आ रहे हैं कैसा सुन्दर गायन है कविता में कैसा लय है आदि-आदि तो उस उपयोग को बाहर से समेट कर भीतर में नियोजित करो। चित्त वृत्ति के अनेक रग बिरगे दृश्य ये आखें देखना चाहती हैं— उन पलकों को बाहर से बद करलो ताकि उनकी दृष्टि गहरी बनकर भीतर उतरे। नासिका को अच्छी सुगध आ रही है और वह मन को बाहर खींच रही है तो मन उसको बाहर से खींच कर भीतर में केन्द्रित कर ले। जिह्वा जो स्वादिष्ट पदार्थ चखने की प्रबल लालसा लेकर चल रही है उसे विराम दे दो। इसी तरह मन की उडान स्पर्श इन्द्रिय के बाह्य सुखों में हो रही है तो उसे भी विराम दे दो। इन्द्रियों के सभी बाहरी व्यापारों को जितने समय तक रोक सको रोककर मन को आत्मस्थ बनाने का अभ्यास करो।

आत्मा की इस विकास यात्रा में बाहर दूर नहीं भीतर गहरे जाना है। मन की गतिविधियों को इन्द्रिय सुख में से निकाल कर उसकी गतिशीलता को आन्तरिकता मे प्रवेश कराना है। यही आत्म साधना है और यही मन को आत्मस्थ बनाने का अभ्यास है क्योंकि इसी साधना और इसी अभ्यास की

सहायता से आत्मा अपने लक्ष्य तक पहुँच सकेगी– सिद्ध स्थिति को प्राप्त कर सकेगी। आप अपने आप के अन्दर भव्य स्वरूप को देखने की कोशिश करेंगे तो वहीं पर प्रभु के दर्शन होंगे।

वास्तव में प्रभु अत्यधिक समीप हैं। उनके लिये भूमडल पर भटकने या आकाश में उड़ने की आवश्यकता नहीं है। यह बात जब मनुष्य के मस्तिष्क में आती है तो वह उपरोक्त सुगम किन्तु मार्मिक उपाय को अपनाने का सकल्प बनाकर चलना शुरू कर देता है लेकिन इस यात्रा में भी जब यह पांचों इन्द्रियों के व्यापार को रोक कर एव मन को आत्मस्थ बना कर भीतर देखता है तो वहाँ भी उसको बीहड वन घाटी तथा भयावह दृश्य दिखाई देते हैं। ये भीतर की वन घाटियाँ बाहर की वन घाटियों से भी अधिक दुर्गम होती है। प्रभु का दर्शन इन्हीं घाटियों को पार करने के बाद हो सकता है।

आत्मा की अनन्त शक्तियाँ
तथा आठ कर्मों की वन घाटियाँ

एक साधक की विकास यात्रा में परमात्म स्वरूप की उपलब्धि के बीच में वन घाटियो के रूप में आपत्तियाँ सामने लाने वाले होते हैं आत्म स्वरूप को आच्छादित किये हुए आठ कर्म। ये घाती और घनघाती कर्म आत्मा की अनन्त शक्तियों पर छाये हुए हैं। इन आवरणों को दूर कर देने पर अपने स्वय के प्रभु के शीघ्र ही दर्शन हो जाते हैं।

आत्मा के आठ कर्म बताये गये हैं। आत्मा की अनन्त शक्तियों को आठ विभागों में बाट दिया गया है। जो ज्ञान की उसकी विराट् शक्ति है– सारे ससार को जानने वाली एव देखने वाली है उस पर आच्छादन करने वाले जो कर्म हैं उनको ज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं। ज्ञान की शक्ति को दबाने वाला यह कर्म होता है। इन्हीं पदार्थों को सामान्य रूप से नहीं देखने की क्षमता व्यक्त करने वाला दर्शनावरणीय कर्म होता है। सामान्य ज्ञान में बाधक एक ऐसा कर्म है जो न तो बाहर के और न अन्दर के किसी भी तत्त्व को सही स्वरूप में देखने देता है और न आत्मा को कभी भी स्वस्थ होने देता है– वह कर्म होता है मोहनीय कर्म जो घनघाती कर्म होकर सभी कर्मों का राजा कहलाता है। मोह कर्म आत्मा को पागल बनाये रखता है। मिलते हुए पदार्थों में बाधा देने वाला कर्म होता है अन्तराय कर्म। यह उपलब्ध हो रही वस्तु की उपलब्धि में रुकावट डाल देता है।

इन चार कर्मों को घनघाती कर्म कहते हैं जो ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय मोहनीय तथा अन्तराय होते हैं। उन चार कर्मों को नष्ट किये बिना अपने प्रभु

के दर्शन नहीं हो सकते हैं।

अगले चार कर्म होते हैं-- वेदनीय नाम गौत्र और आयुष्य। ये चार कर्म प्रभु दर्शन में बाधक नहीं होते बल्कि इनके रहते हुए भी परमात्मा का साक्षात्कार हो जाता है। कवि ने सकेत दिया है कि– 'घाती डूगर आडा अति घणा' । यह सकेत इन्हीं घन-धाती चार कर्मो का सकेत है। ये चारों घनघाती कर्म इस आत्मा के इसी शरीर पिंड में रहने वाले अपने ही परमात्मा के दर्शन करना चाहे तो वन घाटियों और डूगरों की तरह बीच मे आते हैं जिनको पार करना जरूरी होता है।

उस पथिक के समान जब साधक इस विकास यात्रा के लिये सकल्प बद्ध होकर प्रयाण करता है तो मिथ्यात्व कर्म उसके साहस को तोडना चाहता है। उनको हटाने की कोशिश की जाती है तो ससार के पौद्गलिक लुमावने हृदय विमुग्ध बनाते हैं। उसमें पुरुषार्थ पकड़ कर आगे बढते हैं तो अन्तराय कर्म रोक देता है। इस तरह कर्मो की आपत्तियों एक के बाद एक और कमी सामूहिक रूप में आती रहती हैं। आत्मा साधना के क्षेत्र में बढती है– अन्दर ध्यान लगाती है तो ये घनघाती कर्म उसमें बाधक बन कर आडे आ जाते हैं जिससे वह ध्यान भी नहीं लगा पाती है। अपने ही भीतर प्रवेश करने एव अपनी ही आन्तरिकता में रमण करने के लिये कोई साथी भी नहीं होता है। आत्मा ही अपनी मित्र होती है यदि वह इन आपत्तियों पर विजय प्राप्त करती हुई आगे से आगे बढती रहती है तथा आत्मा ही अपनी शत्रु बन जाती है अगर वह इन कर्मो के सामने अपनी पराजय स्वीकार करके पौद्गलिक लुमावने दृश्यों में उलझ जाती है।

लेकिन ज्ञानीजनों का कथन है कि घबराओ मत। आत्मा की अनन्त शक्तियों को प्रकट करना चाहते हो तो अपनी आत्मा को ही मित्र और साथी मानो तथा आत्मस्थ बनने का अभ्यास करो। आत्मा का इस कठिन यात्रा में कोई प्रधान सम्बल है तो वह है अटल श्रद्धा इसे न भूलो।

अटल श्रद्धा का बल एक अपूर्व बल होता है

इन घनघाती कर्मो की डरावनी वन-घाटियों में जब प्रवेश करना हो तो सकल्प एव पुरुषार्थ के साथ श्रद्धा का सगम करा लो और अपने इष्ट का स्मरण करते हुए बढ चलो। अरिहत देवों ने इन घाती कर्मो को हटाया है और नष्ट किया है। वे इस प्रकार वन-घाटियों को लाघ गये और उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। इन अरिहतों के प्रति अटल श्रद्धा का बल ग्रहण करें तो वह श्रद्धा बल एक प्रकार का अपूर्व बल होता है।

आप जानते हैं अरिहन्त देवों को ? प्रात काल प्रार्थना के समय नमस्कार मत्र का उच्चारण किनके प्रति करते हैं ? किन्हें सर्वप्रथम नमस्कार करते हैं आप ? उसमें प्रथम नमस्कार अरिहत देवो को किया जाता है। उनको नमस्कार करने का यही अभिप्राय है कि उन्होंने घनघाती कर्मो को नष्ट कर देने का जो सत्पुरुषार्थ किया है वह वन्दनीय है क्योंकि उनके सत्पुरुषार्थ से ही ससार के भव्य प्राणियों को उस मार्ग पर आगे बढने की प्रेरणा मिलती है। यह प्रेरणा उनके प्रति अटल श्रद्धा धारण करने के बल से फूटती है।

नमस्कार मत्र के तुल्य अन्य कोई मत्र नहीं है लेकिन परम्परा से जिनको यह मत्र मिला है वे ही लोग इस मत्र के महत्त्व को कम जानते हैं। इसका पहला पद है– 'णमो अरिहताण' अर्थात् अरिहन्त देवों को नमस्कार हो। घनघाती कर्म रूप शत्रुओं को जो भी नष्ट कर दे वे अरिहन्त होते हैं। यहाँ पर नाम पूजा नहीं है गुण पूजा है। सभी को गुणों की दृष्टि से नमस्कार किया गया है।

यदि अटल श्रद्धा हो तो इस नमस्कार मत्र में अपार शक्ति मानी गई है। यह मत्र अगर चिन्तन में रमा हुआ है तो कोई भी आपत्ति या बाधा अपने सामने टिक नहीं सकती है बल्कि समीप भी नहीं आ सकती है। मेरे भाई कभी सोचते हैं कि हम तो ससार में रहते हैं और ससार की दृष्टि से अनेक प्रकार की आपत्तियाँ आती हैं उनसे पार पाने के लिये कोई सिद्ध मत्र मिल जाय तो बड़ा अच्छा हो। ससार की क्या– आत्मा की विकास यात्रा की बाधाएँ भी इस नमस्कार मत्र के सामने नहीं ठहर सकती है। मैं कहता हूँ कि यह नवकार मत्र सब मत्रों का सार है– समस्त प्राणियों के लिये मगल का स्रोत है गुणों की गरिमा है। चाहिये इसके प्रति अटल श्रद्धा।

अटल आस्था को अपनावे तो आपत्तियो का अस्तित्व ही नहीं रहेगा

इस नमस्कार मत्र के प्रति अटल आस्था को अपनावें तो आपत्तियों का अस्तित्व ही नहीं रहेगा– न बाहर और न भीतर। तब मन की गति स्वस्थ भी हो जायगी तथा निराबाध भी। तब न सकल्प डगमगायेगा न पुरुषार्थ टूटेगा और न साहस ही छूटेगा । अटल आस्था सभी आत्मिक गुणों को सन्तुलित बनाये रख कर आत्मा को विजय के पथ पर अग्रसर बना देगी।

कमाई के धन्धे कई प्रकार के होते हैं। कुछ लोग व्यापार करके कमाई करते हैं कोई नौकरी करते हैं तो कोई ज्योतिष व हस्तरेखा देखकर आमदनी

कर लेते हैं। कई लोग मन्त्रों के शब्दों से अपनी आजीविका उपार्जित करते हैं। कोई दुखी व्यक्ति आता है तो वह दो चार शब्दो को इधर उधर जोड़ कर कहता है-- जाओ तुम्हारा दुख दर्द दूर हो जायगा। उसका दुख दर्द तो दूर होगा या नहीं– मन्त्र कहने वाला पैसा प्राप्त करके अपना दुख दर्द जरूर दूर कर लेता है। इस प्रकार अलग-अलग बातें जितनी आती हैं उनमे सार तत्त्व का महत्त्व समझने की कोशिश कम की जाती है और भविष्य पर विश्वास कम होता है। नमस्कार मन्त्र के महान् महत्त्व को समझने के लिये भी आन्तरिक दृष्टि की आवश्यकता होती है। कई लोग सोचते हैं कि हमें भी नमस्कार मन्त्र याद है– बच्चों को भी याद है अगर इसमें कोई चमत्कार होता तो वह हमारे जीवन में प्रकट हो जाता। मैं सोचता हूँ कि मनुष्य चमत्कार तो देखना चाहता है लेकिन वह श्रद्धा करना और साधना करना नहीं सीखता है।

यदि मनुष्य जीवन में अटल आस्था को अपनाले तथा उसकी महत्ता को हृदयगम करले तो नमस्कार मन्त्र का अपूर्व चमत्कार भी वह देख सकता है। इस मन्त्र को सिद्ध करने वाले के सामने देवी देवता भी चरणों मे नतमस्तक हो जाते हैं। इस मन्त्र के साधक के सामने इस लोक से सम्बन्धित या परलोक से सम्बन्धित कितनी ही आपत्तियाँ क्यों न आवें– वे अपने आप छट जाती हैं।

जिन आत्माओं ने इस महामन्त्र को सिद्ध किया उनकी साधना की अवस्था में चाहे उनके शरीर की चमड़ी उधेडी गई सिर पर धधकते हुए अगारे रखे गये या कि अन्य प्रकार के सकट आये लेकिन वे साधक अपनी साधना से तनिक भी विचलित नहीं हुए। यह उनकी अटल आस्था का ही सुपरिणाम था।

अटल आस्था का चमत्कार
एक आदर्श दृष्टान्त

जो नमस्कार मन्त्र के प्रति याने कि अपनी ही आत्मा के मूल स्वरूप के प्रति अटल आस्था रखते हैं उनकी छोटी-छोटी क्या बड़ी-बड़ी आपत्तियाँ भी दूर हो जाती है तथा छोटे-छोटे चमत्कार क्या आत्म-विकास का महान् चमत्कार उन्हें दिखाई देता है। जयकुमार का कथा प्रसग अटल आस्था के चमत्कार को प्रदर्शित करता है।

जयकुमार एक राजकुमार था। वह भरतेश्वर के नजदीक पहुँचा तथा वहाँ से सत्कार पाकर हाथी पर सवार हुआ। नमस्कार मन्त्र पर उसका उस समय विश्वास नहीं था– वह बाह्य दृश्यों में ही उलझा हुआ था। उसकी धर्मपत्नि का नाम सुलोचना था और वही उसके ध्यान की केन्द्र बिन्दु थी। वह हाथी पर

बैठकर चल रहा था लेकिन उसका ध्यान सुलोचना की ओर ही लगा हुआ था। सहसा हाथी गगा नदी के प्रवाह में घुसा । सुलोचना की कल्पना में उसे पता नहीं रहा कि हाथी कहाँ जा रहा है ? लेकिन जैसे ही हाथी आगे बढ़ा तो कोई चीज उसके पैर से टकराई । हाथी ने बल लगाया पर उसका पैर अन्दर धसता ही चला गया। उसके मुह से दर्दनाक चिघाड़ निकली तब कहीं जाकर जयकुमार को होश आया। उसने सोचा कि हाथी की जल समाधि के साथ उसकी भी जल समाधि हो जायगी अब वह क्या करे ?

जो भौतिक तत्त्वों को ही सब कुछ समझता है तथा आन्तरिक शक्ति को नहीं पहिचानता है वह ऐसे अवसर पर किंकर्त्तव्यविमूढ़ बन जाता है। जयकुमार की देह में बहुत ताकत थी– वह बली शत्रु को भी पराजित कर सकता था परन्तु उस अज्ञात शत्रु से वह भयभीत हो उठा। हाथी भी चिघाड़ रहा था और जय कुमार भी जोर जोर से चिल्ला रहा था। यह कोलाहल सुनकर उस पार शिविर वाले लोग बाहर निकल आये– इन्हीं में सुलोचना भी थी। उसने पति की दुर्दशा देखी तो उस सकट की बेला में वह नमस्कार महामंत्र का ध्यान करने लगी क्योंकि उसकी इस महामत्र के प्रति अटल आस्था थी।

नमस्कार महामत्र के अखड जाप से गगा को अधिष्ठातृ देवी का सिहासन कम्पायमान हुआ। देवी ने देखा कि सुलोचना पर सकट आया हुआ है। वह वहीं से दौड़ी क्योंकि महामत्र के प्रति उसकी आस्था को निभाने का प्रश्न था। देखा तो हाथी और जयकुमार दोनों करीब-करीब डूब चुके थे। एक व्यतरी मगर बनकर यह दुष्ट कार्य कर रही थी। देवी ने उसे तुरन्त रोका। देवी की शक्ति के सामने व्यतरी भाग खड़ी हुई और हाथी जयकुमार को लेकर सकुशल उस पार पहुँच गया। तब देवी ने अपनी शक्ति से एक सिंहासन बनाया और उस पर सुलोचना को बिठा कर वह उसका स्तुति गान करने लगी।

हाथी पर बैठे हुए जयकुमार ने जब यह देखा तो उसे आश्चर्य हुआ कि जिस देवी ने उसके प्राण बचाये हैं वह भला उसकी पत्नि का स्तुति गान क्यों कर रही है ? उसने देवी से कहा– सुलोचना को आपकी स्तुति करनी चाहिये कि आपके उपकार से उसका वैधव्य दु:ख बच गया लेकिन यह विपरीत व्यवहार कैसे हो रहा है ? तब देवी ने कहा– राजकुमार तुम नहीं जानते कि यह देव रूप जो मुझे मिला है यह सुलोचना की घुट्टी से मिला है। इसी ने मेरी श्रद्धा नमकार मंत्र के प्रति अटल बनाई।

देवी ने आगे बताया। विन्ध्याचल के समीप विन्ध्य नगरी में विन्ध्यपति राज्य करते थे। प्रियगु उनकी रानी थी। यह सुलोचना उनकी राजकुमारी थी। विन्ध्यपति के साथ मेरे पिता कंपन महाराज की मित्रता थी। अच्छे संस्कारों के

लिये मेरे पिता ने मुझे सुलोचना के पास छोड दिया था। उस वक्त भी सुलोचना की नमस्कार मत्र के प्रति अटल आस्था थी– उसी के निर्देश से मैं भी इस महामत्र के प्रति आस्थावना बन गई। एक बार एक सर्प ने मुझे काट खाया बहुत उपचार के बाद भी कुछ नहीं हुआ तो अन्तिम अवस्था में सुलोचना ने मुझे नमस्कार मत्र का ही सहारा दिया जिसके फलस्वरूप मैं गगा की अधिष्ठातृ देवी बनी। इसीलिये हे कुमार सुलोचना मेरी उपकारिणी है और मैं इसकी स्तुति कर रही हूँ।

देवी ने यह सत्य जब स्पष्ट किया तो जयकुमार को भी नमस्कार मत्र के प्रति गहरी आस्था हो गई। देवी ने उसको याद दिलाया कि शीलगुप्त मुनि के पास उसने भी नमस्कार मत्र सुना था लेकिन आस्था नहीं पकडी– उसका महत्त्व नहीं समझा। उसके साथी सर्पगुप्त ने भी इस मत्र को सुना था। बाद में बिजली गिरने से उसका प्राणान्त हो गया। मर कर वह नाग जाति का देव हुआ तब कामेच्छुक बन कर वह पाकोदर नाम की नागिन के साथ रमण करने लगा। देवी ने कहा– राजकुमार तब तुमने उसको फटकारा जिससे उस नागिन ने तुम्हारे प्रति द्वेष पकड लिया। वही नागिन व्यतरी बनी और उसने तुम्हे डुबोने की चेष्टा की। तब तुम्हारी धर्मपत्नि सुलोचना ने नमस्कार मत्र का जाप किया जिसके कारण तुम्हारा सकट टला।

यह सुनकर जयकुमार की आस्था अटल बन गई तथा वह साधना के पथ पर प्रस्थान कर गया।

अटल आस्था चाहिये
अन्तिम विजय आपकी होगी।

अगर आप अटल आस्था को अपना लेते हैं तो मान लीजिये कि अन्तिम विजय आपकी होगी। कोई बाधा नहीं टिकेगी जो आपको पराजित कर सके– आप को अपने विकास पथ से विचलित बना सके। नमस्कार मत्र के प्रति अटल आस्था का अर्थ है परमात्मा मे अटल आस्था होना और परमात्मा में अटल आस्था होगी तो वह अपने ही आत्म स्वरूप के प्रति होगी। आत्मा के प्रति जो अटल आस्था होती है वही सर्वोच्च आत्म विकास का श्रेष्ठ सम्बल है।

मैं बतलाना चाहता हू कि आप भी यदि भगवान् अभिनन्दन के दर्शन करना चाहते हैं तो नमस्कार मत्र के प्रति अटल आस्था का सबल लेकर घनघाती कर्मो को जीत लें। आपको जब यह विजय मिल जायगी तो आपको अपने प्रभु के दर्शन भी हो जायेंगे।

नोखा

१४ १० ७६

□□□

8

अमृत योग की साधना या विषयोग की ?

अभिनन्दन जिन दर्शन तरसिये
दर्शन दुर्लभ देव

कवि आनन्दघन जी अभिनन्दन भगवान् के दर्शन की तीव्रता को लेकर चलते हुए जीवन में आध्यात्मिक रस से ओतप्रोत थे। वे आन्तरिक शक्ति का महत्त्व समझते थे और उसी आन्तरिक महत्त्व को प्रकट करने की दृष्टि से प्रभु के स्वरूप का माध्यम लेकर भव्य जनमन में आत्म कल्याण की जिज्ञासा पैदा करना चाहते थे।

प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में कुछ न कुछ तो करता ही है। सामान्यतया काया का योग कार्यरत रहता ही है और यह योग तभी कार्यरत रहता है जब मनोयोग और वचन योग भी कार्यरत रहते हैं। मन वचन काया का योग व्यापार साधारण रूप से प्रत्येक मानव का चलता है। कहने का तात्पर्य यह है कि इस योग व्यापार की गति तो है लेकिन देखने की बात है कि उस गति की दिशा किधर हैं ? क्या वह दिशा अमृत योग की साधना की है अथवा विषयोग के व्यापार की ?

अमृत पीना चाहने वाला क्या विष पी लेगा ?

कवि का सकेत है कि भगवान्, मैं आपके दर्शन करना अवश्य चाहता हूँ, और उस हेतु से वचन के द्वारा दर्शन-दर्शन की रट लगाता हू, लेकिन आगे का कार्य सम्पन्न नहीं करता हूँ, तो वह दर्शन-दर्शन की रट उस वनराज के समान हो जाती जो अपने मुह से शब्द तो निकाल देता है परन्तु उसकी आज्ञा का कोई प्रयोजन नहीं होता। वह शब्द तक ही सीमित रह जाती है। वैसे ही

भव्यजनों की प्रभु दर्शन की बात केवल मुख तक ही सीमित रह जाती है। वे यह जरूर कहते हैं कि प्रभु के दर्शन करें लेकिन प्रभु के दर्शन किस माध्यम से होते हैं कौन से श्रद्धान को जीवन में लाना पडता है– इसका वे विज्ञान नहीं करते हैं। प्रभु के दर्शन की रटन केवल शब्दों से लगाते रहने से प्रभु के दर्शन समव नहीं है।

जिस पुरुष को अमृत रस का पान करने की अभिलाषा है वह अपनी पिपासा को अमृत रस से ही शान्त करना चाहेगा। ऐसे पुरुष को कोई विष पिलाना चाहे तो क्या वह विष पी लेगा ? वह जानता है कि विष का पान करने से असह्य जलन पैदा होगी और उससे उसकी मृत्यु भी हो सकती है। यह बात तो दूर रही लेकिन अभी जिस मनुष्य को स्वच्छ जल की प्यास है उसको अगर समुद्र का खारा पानी पीने को दिया जाय तो क्या वह वैसा पानी पी लेगा और क्या उस पानी से उसकी प्यास बुझ सकेगी ? समुद्र के पानी से जैसे उसकी प्यास बुझती नहीं है वैसे ही कोरे नाम रटन से प्रभु के दर्शन होते नहीं हैं।

प्रभु नाम स्मरण के साथ मनुष्य का पवित्र अन्त करण जुड़ जाना चाहिये। जब मन वचन और काया प्रभु की साधना में एकीभूत होते हैं तभी प्रभु के दर्शन करने की क्षमता उत्पन्न होती है। मन की पवित्रता मूल में होनी चाहिये। मन की गति तो निरन्तर चलती रहती है लेकिन वह अधिकाशत विपरीत दिशा में चलती है– विषय कषाय मोह और माया के क्षेत्र में दौडती है। उस गति को मोड़ देकर प्रभु के स्वरूप-स्मरण में एकाग्र रूप से नियोजित करें तभी अमृतमयी दिशा की ओर गमन हो सकता है– विष पीने की जलन तभी मिट सकती है। बड़े-बड़े महापुरुष जिन्हें जैसे ही प्रभु दर्शन की अभिलाषा जगी– अमृत पीने की प्यास लगी तो उस पिपासा को शान्त करने के लिये विष की सीमाओं से बाहर निकल गये और अमृतमयी दिशा में आगे से आगे बढ़ते रहे। अमृत पीना चाहने वाला अमृत योग की ही साधना करेगा तथा अमृत पीकर ही अपनी पिपासा को शान्त करेगा।

अमृतमयी दिशा मे
भद्रबाहु स्वामी का प्रयाण

भद्रबाहु स्वामी जिनका जैन जगत् में बहुत बड़ा नाम है प्रतिष्ठानपुर के ऋद्धि सम्पन्न निवासी थे। घर में वैभव की बहुलता थी तथा पाचों इन्द्रियों से सम्बन्धित अद्वितीय सुख सुविधाएँ पर्याप्त मात्रा में उन्हें उपलब्ध थी। लेकिन जब वे सन्तों के सम्पर्क में पहुँचे तो उन्हें सासारिक नश्वरता का स्वरूप ज्ञान

हुआ और उन्हें प्रतिबोध मिला कि इस ससार के पदार्थ कितनी ही मात्रा में क्यों न मिल जाय पाचों इन्द्रियों के विषय भी पूर्णतया क्यों न प्राप्त होते रहे तथा देवकुमार की तरह इस शरीर को भी अमरता क्यों न मिल जाय-- अन्तरात्मा की तुष्टि इन सबसे होने वाली नहीं है। अन्तरात्मा की तुष्टि तो आन्तरिक शक्ति के प्रकटीकरण से ही हो सकती है।

महात्मा के इस उपदेश का असर भद्रबाहु की आत्मा पर हुआ और उनमें यह जिज्ञासा पैदा हुई कि इस मनुष्य तन को यदि सार्थक बनाना है तो अमृत की योग साधना करनी चाहिये और अमृत प्राप्त करने के उद्देश्य से अमृतमयी दिशा में प्रयाण करना चाहिये।

भद्रबाहु ने अपने छोटे भ्राता को बुलाया और सारे वैभव का परित्याग करके अमृत साधना के लिये प्रयाण करने का अपना संकल्प उसे बताया। उन्होंने कहा-- कुछ समय पहले मैं सारी सम्पत्ति का बटवारा करना चाह रहा था और मायावी व्यवहार से अधिक सम्पत्ति ले लेने की योजना भी बना रहा था, लेकिन सन्तों के सम्पर्क से मेरी विचारधारा परिवर्तित हो गई है। मुझे अब आत्मा के विज्ञान का ज्ञान हो गया है सो तुम ही सारे वैभव को सम्हालो-- मैं तो अब इस प्रपच से बहुत दूर चले जाना चाहता हूँ।

छोटे भ्राता ने उत्तर दिया-- भाई साहब आपकी तरह मैं भी मायावी बना हुआ था और अधिक सम्पत्ति हड़पने की चेष्टा में था। आपका दिल सन्तों की वाणी सुनकर साफ हो गया तो अब मेरा दिल भी आप की वाणी सुनकर साफ हो गया है। अमृत की प्यास मुझे भी लग गई है। आप आगे बढ़ रहे हैं तो मैं भी अब पीछे न रहूं। मैं भी अमृतमयी दिशा में आपके साथ ही चलना चाहता हूँ। यह सम्पत्ति पीछे की सन्तानों को सौंप दें और अपने दोनों अमृत साधना के लिये चल पड़ें।

अमृत योग की साधना
दोनो भाइयो मे अन्तर

भद्रबाहु और उनके छोटे भ्राता-- दोनों दीक्षित हो गये। दोनों ने आचार्य के पास रहकर अध्ययन करते हुए शास्त्रों की गहनता प्राप्त की। भद्रबाहु स्वामी ने एक पूर्व का ज्ञान प्राप्त कर लिया। भद्रबाहु का जीवन विनयशीलता निरभिमान वृत्ति एव संयम साधना से ओतप्रोत था। आचार्य यह देखकर आश्चर्य करते थे कि ऋद्धिशाली घर में जन्म लेने के उपरान्त भी भद्रबाहु की जीवन चर्या में इतनी विनम्रता और इतनी सावधानी कैसे है ? ये अमृत योग की

साधना में दत्तचित्त बन गये थे।

स्वर्गीय आचार्य श्री फरमाया करते थे कि साधु जीवन की स्थिति यदि साधना के साथ है और वहाँ जीवन को निर्मल बनाने का प्रयास चल रहा है तो उसे महानता ही मानिये। साधु के मन में किसी भी रूप में अहकार नहीं बना रहना चाहिये। सच्ची साधना मे अहकार वृत्ति सबसे बडी बाधा होती है। अहकार के साथ-साथ अगर द्वेष की भावना भी आ गई तो समझिये कि सयम के अमृत में विष घुल जाता है। इस स्थिति को बड़े घर के रडापे जैसी भी कह सकते हैं। बडे घर में कोई बहिन विधवा हो जाती है तो उसको खाने-पीने की तो कोई कमी नहीं रहती लेकिन सौभाग्य सुख नहीं मिलता। वैसे ही साधु-जीवन की पौशाक धारण करने वाला राग द्वेष अह और ईर्ष्या के वशीभूत हो गया रात-दिन प्रपच में उलझ गया तो उसको भी खाने पीने की तो कमी नहीं रहेगी क्योंकि समाज देता है लेकिन सयमी जीवन के आनन्द से वह वचित हो जायगा। इसलिये सन्त कह दिया करते हैं कि सयम की साधना के लिये गृहस्थ के यहाँ से भोजन लाया पर सयम मे सर्वथा प्रवृत्ति नहीं की तो यह कहावत लागू हो जाती है– 'गृहस्थ तेरा टुकड़ा लम्बे-लम्बे दात। भोजन करे तो नहीं उखड़े नहीं तो काढे आत।। अमृत योग की साधना से विलग होना साधु के लिये कतई योग्य नहीं कहलाता है।

साधुता की साधना में दोनों भाइयों की गतिविधियाँ भी विचित्र हो रही थी। यद्यपि दोनों सगे भाई थे लेकिन बडे भाई भद्रबाहु निरभिमानी वृत्ति के साथ साधना में लगे हुए थे। वह उनकी अमृत योग की साधना थी। जानते हैं अमृत योग की साधना किस प्रकार होती है ? इसके लिये विशेष यौगिक प्रक्रिया भी की जाती है। इस साधना का प्रयोग चालू होता है तो वह प्रतिक्षण चलता रहता है। बैठा हुआ है तो क्या सोया हुआ है तो क्या– हर समय साधना सधती जाती है और वह उसी में तन्मय बना रहता है। सदा उसकी गति चलती रहती है। भद्रबाहु स्वामी को अमृतपान की तीव्र पिपासा थी और वे इसी कारण एकाग्रता से साधना में लीन थे।

लेकिन छोटे भ्राता की वृत्ति शास्त्रीय अध्ययन करने के साथ-साथ प्रज्ञप्ति एव सूर्य प्रज्ञप्ति की स्थिति का अध्ययन करने में लगी। वह सोचने लगा कि इसी में मूल सार है। साथ ही उसके मन में अहकार वृत्ति जाग गई कि यह बहुत बड़ा ज्ञानी हो गया है। उसके बड़े भाई का ज्ञान उसके ज्ञान के सामने कुछ भी नहीं है। इस अहकार के साथ उसकी लालसा पैदा हुई कि आचार्य पद उसको मिलना चाहिये। यह इस लालसा को पूरी करने में तन्मय बन गया।

गये अमृत योग की साधना मे और पड गय विषयोग के व्यापार

आचार्य बड़े विलक्षण थे। वे तटस्थ भाव से दोनों की गतिविधियों को बारीकी से देख रहे थे। दोनो की व्यवहार वृत्ति से वे दोनों के स्वभाव और जीवन को परख रहे थे। उन्होंने मन ही मन निर्णय लिया कि छोटा भ्राता मुनि बना है लेकिन उसके मुनि जीवन में अमृत योग की साधना तो नहीं आई और विष योग की साधना आ रही है। वह अहकार के साथ बड़े भाई का तिरस्कार भी करने लगा है और अपने को आचार्य पद प्राप्त करने की लालसा में डुबो रहा है। उन्हें दिखाई दिया कि उसका वह मुनि जीवन भी विषमय बन चुका है। उसे आचार्य पद पर प्रतिष्ठित करेंगे तो तीर्थकरों के प्रतीक इस पद की गरिमा को वह नीचे ही गिरायगा– ऐसा उन्होंने अपने मन में सोचा। उन्होंने भद्रबाहु स्वामी के जीवन की उत्कृष्टता की परख की और उन्हें आचार्य पद पर प्रतिस्थापित कर दिया।

तब तो छोटे भ्राता की आग भडक उठी। वह पद उसे नहीं मिला और बडे भाई को दे दिया गया। यह नहीं सोचा कि आचार्य पद से क्या कोई जागीर मिलने वाली थी ? वह तो व्यवस्था वाला पद था– काटों का ताज था। वास्तव में पद की ममता न रख कर समभाव की साधना करना भी सरल नहीं होता है। गुणशीलता नहीं हो तो ऐसी ममता में उलझकर भी मनुष्य पतन की राह पर चला जाता है। छोटे भ्राता का मन भी डिग गया कि वह जो चाहता था– सम्मान उसे मिला नहीं इसलिये पुन गृहस्थ बन जाय ताकि वहाँ पहुँचकर सम्मान प्राप्त कर सके। उसकी विषयोग की गति को देखिये कि बारह वर्ष की साधुता की साधना के बाद वह पुन गृहस्थ बन गया। गये थे अमृत योग की साधना में और वापिस पड़ गये विष योग के ही व्यापार में।

गृहस्थ बन कर उसने यह प्रचार करना शुरू किया कि वह घर बार छोड़ कर निकला था तो सीधा सूर्य लोक में पहुँच गया था वहाँ उसने नक्षत्रों की गतिविधियों का अध्ययन एव अवलोकन किया जिससे वह मुहूर्त निकालने तथा भविष्यफल बताने में विशेषज्ञ हो गया है। इस प्रचार से भद्रिकजन उसकी ओर आकर्षित होने लगे। दस बातों में से दो बात सही निकल जाती– इस प्रकार उसने अपनी प्रतिष्ठा जमानी प्रारम की। प्रतिष्ठानपुर का नरेश भी उसकी विद्या से प्रभावित हुआ तथा उसने उसको राजपुरोहित का पद दे दिया। अब तो उसका अहकार पुन भड़का कि वह भी पदधारी हो गया है। तब उसके मन में

विषयोग का व्यापार जटिल बनने लगा।

विष पर अमृत की विजय
सत्य की सदा जय

छोटा भ्राता राजपुरोहित बन जाने के बाद भद्रबाहु स्वामी की निन्दा करने लगा तथा उनके भक्तो के साथ मे भी द्वेष रखने लगा। सयोग से विहार करते हुए भद्रबाहु स्वामी प्रतिष्ठानपुर पधारे। वे धर्मस्थान में ठहर गये। जन समुदाय उनके दर्शनों के लिये आने लगा। नरेश भी दर्शनार्थ वहॉ पहुँचे। आचार्य भद्रबाहु का ओज उनकी निर्मलता उनके प्रभावशाली व्यक्तित्व तथा वास्तविक सन्त जीवन को देखकर वे श्रद्धावनत हो गये।

धर्मस्थान में नरेश बैठे हुए थे तभी उन्हे सूचना मिली कि राजकुमार का जन्म हुआ है। बड़ी खुशी की बात थी राजा आनन्द विभोर हो गये। सूचना देने वाले को उन्होंने बख्शीश दी तथा साथ मे आये राजपुरोहित को भी सम्मानित किया। राजा को राजकुमार जन्म की बधाई देने वालों का ताता लग गया। वे वहॉ से राजमहलों मे पहुँचे और राजकुमार का जन्मोत्सव मनाया जाने लगा। प्रसन्नता के क्षणो के बीच में राजपुरोहित ने विष उगला– महाराज ऐसे प्रसन्नता के अवसर पर सभी ने आपको बधाई दी लेकिन भद्रबाहु ने बधाई का एक शब्द भी नहीं कहा बल्कि चुप्पी साध कर बैठ गया। साधु आचार से अपरिचित राजा को भी भद्रबाहु स्वामी का व्यवहार अखर गया फिर भी वह उत्तेजित नहीं हुआ।

दूसरे दिन जब भद्रबाहु स्वामी के दर्शन करने के लिये राजा गये तो शान्त भाव से उन्होंने आचार्य से कह दिया महात्मन् राजकुमार के जन्म पर सभी ने मुझ को बधाई दी आपने कुछ भी नहीं कहा– इसका क्या कारण था ? आचार्य ने स्वाभाविक रूप मे कहा– राजन् ससार का कार्य चलता रहता है इसमें बधाई देने का क्या प्रसग है ? आज जन्मोत्सव मनाया जाता है सप्ताह भर बाद उसी का शोक मनाया जा सकता है। इस सासारिकता से हम साधु लोग दूर ही रहते हैं। आचार्य ने तो वस्तु स्वरूप समझाने की दृष्टि से बात कही थी लेकिन राजा यह सुनकर सशकित हो उठा। उसने पूछा– भगवान् उत्सव और बधाई के साथ शोक की बात कैसे आ गई ? महात्मा ने कहा– ससार की स्थिति ऐसी ही होती है।

यह सुनकर राजपुरोहित ने ललकार कर कहा– राजन् मैं गणित और ज्योतिष का विद्वान् हूँ– ये इस गहन विषय को क्या समझेंगे ? राजकुमार की कुण्डली मैंने समस्त गणना करके बनाई है। वे कला प्रवीण एव कुशल शासक

बन कर सौ वर्ष तक राज्य करेगे। राजा को कुछ ऐसी शका बैठ गई कि उन्होंने राजपुरोहित की बात तो सुनी ही नहीं फिर वे भद्रबाहु स्वामी से बोले– भगवन् आपके मुह से सप्ताह भर की यह बात क्यों निकली है ? आचार्य ने कहा– ससार की स्थिति को समझने की दृष्टि से निकली है। राजा को सन्तोष नहीं हुआ उसने सही बात बताने की हठ पकड़ ली। आचार्य ने अन्ततोगत्वा कहा– राजन् आप अपने जीवन में समभाव रखे। आज आप उत्सव मना रहे हैं– सप्ताह भर बाद बिलाव के मुह से बच्चे की घात हो सकती है।

राजा असमजस में पड़ा कि महात्मा की बात मानू या राजपुरोहित की बात मानू ? उसने राजकुमार के कक्ष पर ऐसा पहरा लगा दिया कि बिलाव कहीं से घुस ही नहीं सके। योग की बात कि सातवें दिन धायमाता राजकुमार को गोद में लेकर दरवाजे के पास बैठी हुई थी कि अचानक किवाड़ की भोगल सीधी राजकुमार पर गिरी और उसकी वहीं मृत्यु हो गई। यह बात राजा तक पहुँची तो वे चौंक उठे। उन्होंने आकर भोगल को देखी तो उसका जो किनारा राजकुमार पर गिरा था उस पर बिलाव का चित्र खुदा हुआ था। राजा को महात्मा पर प्रगाढ श्रद्धा हो आई। वे सोचने लगे कि जिसे राजपुरोहित बना कर उन्होंने विद्वान् समझा था उसकी बात कितनी झूठी निकली ?

राजा आचार्य भद्रबाहु के चरणों मे लोट गये और पूछने लगे– भगवन्, मुझे अमृत पीने की प्यास लग गई है। इस ससार में अमृत योग नहीं मिलता। मैं सप्ताह भर पहले हर्ष मना रहा था और आज मुझे शोक मनाना पड़ा। अब मुझे वह मार्ग बताइये जिस पर चलकर मैं अमृत योग की साधना कर सकू।

यह छोटा भ्राता के विष पर भद्रबाहु स्वामी के अमृत की विजय थी। सत्य की सदा जय होती है।

अमृत की वर्षा मे
फिर विष की जलन क्यो न मिटती ?

लोकनिन्दा से छोटे भ्राता के मन को बड़ा धक्का लगा और वह बीमार हो गया। एक दिन छोटे भ्राता का लड़का भद्रबाहु स्वामी के पास आया और बोला– आचार्य देव मेरे पिताजी बहुत बीमार हैं। आप कृपा करके उन्हें दर्शन देने पधारें। उन्होंने निवेदन कराया है। आचार्य तो अमृतमय हो चुके थे। वे तुरन्त उठ कर चल दिये। उन्होंने छोटे भ्राता को दर्शन दिये मागलिक सुनाई और पूछा– क्या बात हो गई है ? छोटे भ्राता ने कहा शास्त्रों पर से मेरी श्रद्धा टूट गई है। मैं चन्द्र प्रज्ञप्ति और सूर्य प्रज्ञप्ति को सर्वथा सच मानकर चल रहा था

मेरी भविष्यवाणी झूठी निकल जाने से मुझे बहुत दु ख हुआ है। तब आचार्य ने प्रतिबोध दिया– शास्त्रो के सच झूठ होने का सवाल नहीं है यह तुम्हारी मतिभ्रमता है। वे ही शास्त्र मैंने भी पढे हैं। तुम शास्त्र पढकर अभिमान और ईर्ष्या मे पड गये तो तुम्हारे सारे जीवन मे विष व्याप्त हो गया। विष की जलन से ही तुम पीडा पा रहे हो।

आचार्य की अमृत वर्षा में फिर उसकी विष की जलन क्यो न मिटती ? छोटे भ्राता को बोध मिला और वह पुन अपने भाई की शरण में जाकर अमृत योग की साधना करने लगा। लेकिन अमृत योग की साधना सफल तब होती है जब अन्दर का विष दूर होता है। ऊपर से राग द्वेष हटता हुआ दीखता है लेकिन वह अन्दर के कोनो में इधर उधर लगा हुआ रह जाता है तो उतना सा विष भी हानि पहुँचाये बिना नहीं रहता। छोटे भ्राता की आयुष्य समाप्ति की स्थिति आ गई और जो अन्दर कुछ विष रह गया था उसके कुप्रभाव से वह व्यन्तर जाति का देव हो गया। उसने ज्ञान में देखा तो विदित हुआ कि वह पहले जन्म में साधु था लेकिन अपनी विषमय भावना से उसे इस योनि में जन्म लेना पड़ा। यह जानकर वह अधिक उत्तेजित हो गया और भद्रबाहु स्वामी के श्रावकों को सताने लगा। श्रावक तग आकर उनके पास गये तो उन्होंने उनको भगवान् के वचनों पर पूर्ण आस्था रखते हुए समभाव धारण करने का आग्रह किया। उन्हें सकट के समय कुछ गाथाएँ बोलते रहने को कहा जिससे व्यन्तर का असर मिट गया। अन्त में व्यन्तर भी सारी स्थिति को समझ कर पश्चाताप करने लगा और उसने अपने मन का सारा विष बाहर निकाल फैंका। अमृत की वर्षा मे वह कब तक विषमय बना रहता ?

आप अमृत योग की साधना करेगे या विषयोग के व्यापार मे पडे रहेगे ?

जगत् के प्राणियों को मोटे तौर पर दो प्रकार की श्रेणियों मे बाट सकते हैं। एक तो वह श्रेणी जिस में प्राणी अमृत योग की साधना के प्रति प्रभावित होते हैं तथा न्यूनाधिक रूप से उस साधना में प्रवृत्त होते हैं। दूसरी वह श्रेणी जिसमें प्राणी विष योग के व्यापार में उलझे रहते हैं इतने मूर्छा भाव से कि वहाँ से हटने की उनमें जागृति भी बडी कठिनाई से आती है। विषयोग के व्यापार को छोडकर अमृत योग के साधना-पथ पर जो चलता है वह महान् होता है लेकिन महानता यहीं समाप्त नहीं होती है। वह उससे भी महान् होता है जो विष-प्रहार के उत्तर में भी अमृत की वर्षा करता है।

सोचिये कि आप भी अमृत योग की साधना करना चाहेंगे अथवा विषयोग के व्यापार में ही पड़े रहेंगे ? इस ससार में परिभ्रमण करते हुए इस आत्मा ने बहुत विष पिया है और बहुत विष बिखेरा है। यह विष की जलन से सतप्त है फिर भी अमृत की ओर यह नहीं मुड रही है– इसी का आश्चर्य है। इस आत्मा को अब अमृत की आवश्यकता है। अमृत की उग्र प्यास जगाइये ताकि यह आत्मा विष के योग व्यापार से अलग हट कर अमृत योग की साधना की दिशा में गति कर सके। अन्तिम लक्ष्य यही बने कि आत्मा अमृतमय हो जाय।

नोखा
१६ १० ७६

□□□

9

आज्ञा के प्रति अर्पण की भावना

सुमति चरण रज आतम अर्पणा
दर्पण जेम अविकार–सुज्ञानी
मति तर्पण बहु सम्मत जाणिये
परिसर्पण सुविचार–सुज्ञानी

भव्य आत्माओ के लिये सुन्दर प्रशस्त तथा सम्यक अवसर उपस्थित हुआ है। जिन आत्माओ को सदा सर्वदा सुखी बनना है वर्तमान जीवन को सफल बनाना है एव परलोक को भी उज्ज्वलता के साथ देखना है तो कवि का सकेत है कि सुमतिनाथ भगवान् के चरणों में आत्मा का अर्पण कर दिया जाय। जहाँ अर्पणा का प्रसग है वहाँ अपने आपको समर्पित करने का अवसर है।

जिस आत्मा ने सुमतिनाथ भगवान् के चरणो में अपनी अहवृत्ति का सर्वथाभावेन विसर्जन कर दिया है तथा पूर्ण रूप से भगवान् के चरणों का अनुसरण आरम कर दिया है वह जीवन की परम सिद्धियो को प्राप्त कर सकती है। आज्ञा के प्रति अर्पण की भावना पूरी सच्चाई के साथ जिस आत्मा में जागृत हो जाती है वह उस आज्ञा पालन के आश्रय से ही अपना उद्धार सम्पादित कर लेती है।

भगवान् के जो चरण हैं वे ही भगवान् की आज्ञा हैं

कवि ने भगवान् के चरणों का सकेत दिया है। भगवान् के इन चरणों का अभिप्राय किन्हीं शरीर के अग रूप चमडे के चरणों से नहीं है। उपमा चरण कमल से दी है– वे चरण हैं भगवान् के आचरण के चरण। चरण का अर्थ होता है आचरण–चलना। भगवान् ने स्वय ने अपने जीवन में जा आचरित किया तथा

आज्ञा पालन का दिव्य आदर्श
राजकुमार कुणाल की आखे

प्राचीन काल की ऐतिहासिक स्थिति से भी यदि देखा जाय तो राजकीय क्षेत्र में भी आज्ञा पालन के दिव्य आदर्श उपस्थित किये गये थे जिनकी छाया भी आधुनिक युग में कहीं ढूंढें तो कठिनता से ही दिखाई देगी।

पाटलीपुत्र के सम्राट या दूसरे शब्दों में कहू तो मगध देश के महाराजा अशोक अपने प्रकोष्ठ में बैठे हुए अपने पुत्र को पत्र लिख रहे थे। पिता का चिन्तन था कि उनका पुत्र सब दृष्टि से योग्य व सम्पन्न है तथा आठ वर्ष का हो जाने से उसे तुरन्त अध्ययन शुरू कर देना चाहिये। पत्र में लिखा था– 'त्वया अधितव्यमिति ममाज्ञा चरेम विधेया अर्थात् तुम अध्ययन करो–यह मेरी आज्ञा है जिस पर तुम चलो। पत्र में इतना लिखा और अशोक को कोई आवश्यक काम आ जाने से वे उस पत्र को उतना ही छोड़कर चल गये। इतने में अशोक की द्वितीय पत्नि त्रिष्यरक्षिका वहाँ आ गई। महाराज को न पाकर लौटने ही वाली थी कि उसकी दृष्टि पत्र पर पड़ गई। त्रिष्यरक्षिका कुणाल की सौतली माता थी। विरली ही कोई सौतेली माता होती है जो सौत के पुत्र को अपने पुत्र के तुल्य माने। त्रिष्यरक्षिका के मन में भी कुणाल के प्रति डाह का भाव था। वह सोचती थी कि कुणाल के रहने से उसका पुत्र राज्य प्राप्त नहीं कर सकेगा। उसमें दुर्भावना जागी और उसने अपने मन की पूरी करने के लिये अपने आखों के काजल से एक शलाका भरी और पत्र के अधितव्य शब्द के अ पर एक बिन्दी लगा दी माने कि सारे वाक्य का अर्थ ही बदल गया। वाक्य बन गया–

अधितव्यामिति ममाज्ञा चरेम विधेया' अर्थात् तुम अपने आपको अधा बना लो– यह मेरी आज्ञा है जिस पर तुम चलो। अधितव्य और अधितव्य का अर्थ एकदम विपरीत हो गया। त्रिष्यरक्षिका यह बिन्दी लगाकर चली गई।

अशोक पु। उस प्रकोष्ठ में आये और उन्होंने बिना पुन पढे ही पत्र को समेट कर कुणाल को पहुँचा देने के लिये अनुचर को दे दिया। अनुचर पत्र लेकर कुणाल के पास अवन्तिका चला गया। स्वय कुणाल के हाथ में उसने महाराज का पत्र दिया। कुणाल ने उसे पढा– कुणाल के सरक्षक ने भी उसे पढा। वे समझ नहीं सके कि यह क्या बात है ? सरक्षक ने अनुचर से पूछा– यह पत्र तुमको किसने दिया है ? अनुचर ने कहा– स्वयं अशोक महाराज ने। सरक्षक ने सारी जानकारी अनुचर से ली। कुणाल बच्चा ही था फिर भी सारे

बात ध्यान से सुन रहा था। सब सुनकर उसने निश्चयपूर्वक कहा– कैसी भी हो पिता की आज्ञा मेरे लिए शिरोधार्य है। यदि पिता चाहते हैं तो ये नेत्र क्या सारा जीवन भी उनके चरणो मे समर्पित करने को मैं तैयार हूँ। आज्ञा मेरा धर्म है।

अनुचर ने वापिस जाकर अशोक से उस आज्ञा की पुष्टि करनी चाही तो कुणाल ने रोक दिया। उसने कहा– यह मेरी कायरता होगी। पिता की आज्ञा मुझे सर्वथा मान्य है। यह कहकर उसने बिना तनिक भी दुर्बलता लाये तीक्ष्ण शस्त्र को अपने ही हाथ से अपनी दोनों आखों मे भौंक दिया। पिता के आज्ञा पत्र से कुणाल अधा हो गया। राजकुमार कुणाल की आखें आज्ञा पालन की दिव्य आखे बन गई।

आज्ञा को धर्म मानने वाले किसी भी स्थिति मे हिचकिचाते नही हैं

यह तो एक परिवार का रूपक है कि एक पिता के लिखने को उनकी आज्ञा मानकर पुत्र ने तनिक भी हिचकिचाहट नहीं दिखाई। यह भी नहीं सोचा कि बिना किसी कारण के पिता ने ऐसी क्रूर आज्ञा क्यों दी ? यह भी नहीं चाहा कि उस आज्ञा की पुष्टि ही कर ली जाय। उस आज्ञा में भ्रान्ति हुई थी– सौतेली माँ ने धूर्तता कर दी थी– तब भी कुणाल के मन में कोई शका पैदा नहीं हुई। उसने तो उसे पिता की आज्ञा मानकर ही बेहिचक पूरी कर दी। वास्तव में आज्ञा को धर्म मानने वाले किसी भी स्थिति में हिचकिचाते नहीं है।

क्या आज के समय में है कोई कुल को विभूषित करने वाला ऐसा पुत्र जो पिता की आज्ञा को यथावत् समझकर चलता हो ? केवल गृहस्थाश्रम की स्थिति का ही प्रसग नहीं है। यह प्रसग आगे बढता है। यह राजनीति की स्थिति में व्याप्त होता हुआ धर्म नीति में प्रवेश करता है। जहाँ प्रभु की आज्ञा की निष्ठापूर्वक आराधना होती है वहाँ साधक अपने आपको सम्पूर्ण तथा समर्पित करके चलता है। उसमें कोई ननु नच नहीं करता। क्या है– यह भी प्रश्न कभी नहीं उठाता। गौतम गणधर का ही उदाहरण सामने है। प्रभु के निर्वाण का प्रसग और प्रभु की आज्ञा हुई कि देवशर्मा ब्राह्मण को प्रतिबोध देकर आओ। उस समय गौतम गणधर कुछ कह सकते थे कि भगवन् आपके निर्वाण की अवस्था समीप आ गई है मुझे अपने पास में ही रखिये। लेकिन चू शब्द भी नहीं कहा और यथाज्ञा कह कर चले गये।

गौतम गणधर की बात क्या कहू, स्वर्गीय आचार्य श्री गणेशीलाल जी महाराज साहब की जीवन गाथा भी अतीव गौरवशाली है। मेरी दीक्षा को ढाई

ने उसे गोद में उठा लिया और घोषणा की कि यह मेरा युवराज है।
आत्मा समग्र रूप से आज्ञा के प्रति अर्पित हो जाती है तभी आज्ञा का पालन होता है लेकिन जब आज्ञा का पालन होता है तो उसका सुफल भी सामने आकर रहता है।

प्रभु के चरणो मे अर्पित करेगे अपनी आत्मा को ?

कुणाल की यह घटना तो एक पारिवारिक घटना है। इस आज्ञा पालन की महिमा आध्यात्मिक जगत् में अनूठी ही होती है। क्या आप भी चाहते हैं कि भगवान् सुमतिनाथ की आज्ञाओं का हृदय से पालन करें ? प्रभु के चरणों में अर्पित कर सकेंगे इसके लिये अपनी आत्मा को ? समझी है आपने आत्मार्पण की अनुभूति तथा आज्ञा पालन की एकनिष्ठ तन्मयता ?
प्रभु की आज्ञा को सर्वोच्च धर्म मानकर चलिये। वीतराग देवों ने जगत् के कल्याण का जो मार्ग दिखाया है नि शक होकर उस पर गति कीजिये– उसको सर्वस्व मानिये । अपनी आत्मा को समग्र भाव से उस मार्ग पर समर्पित कर दीजिये। जो आज्ञा से बच कर चलना चाहते हैं वे अपने अन्दर को टटोलें तो पता लग जायगा कि उनकी आत्मा में आवश्यक रूप से अर्पणा का अनुभाव जागृत नहीं हुआ है। उनका अन्त करण ससार की मोह माया में उलझा हुआ है। वे अभी भी शरीर परिवार धन सम्पत्ति मकान हवेली आदि की ममता में अड़े हुए हैं। उस उलझन से निकलने पर ही प्रभु के चरणों में पहुँचा जा सकेगा– प्रभु का चरण– आदर्श उपस्थित किया जा सकेगा।
जिस दिन यह भावना प्रबल बनेगी कि प्रभु की आज्ञा ही ज्ञान दर्शन एवं चारित्र्य की आराधना की आज्ञा है– अपनी आत्मा क उद्धार तथा जगत् के समस्त प्राणियों को आत्मीय भाव में लाने की आज्ञा है तथा इसी आज्ञा से मोक्ष प्राप्त हो सकेगा तो उस दिन यह आत्मा पूर्ण समर्पण के भाव से अनुरजित हो उठेगी। तब उस आज्ञा के अनुसरण में वह अपने सारे जीवन को अर्पित कर देगी। आत्मा का सकल्प जगेगा पुरुषार्थ उठेगा तो समर्पण के भाव से साधना कर्मठ बन जायगी। वह आत्मा फिर ससार के कल्याण के लिये भी सक्षम हो जायगी। तीर्थंकरों व त्यागियों के हृदय में समाज के प्रति अर्पणा पैदा होती है तभी वे जगत् का उपकार करते हैं। अत आज्ञा के प्रति अर्पण की भावना सर्वोद्धारक होती है।
नोखा
१७ १० ७६

□□□

10

आत्मा बाहर से अन्दर, अन्दर से परम

सुमति चरण रज
त्रिविधि सकल तनुधर गत आतम्
बहिरातम धुरि भेद सुज्ञानी
बीजो अन्तर आतम तीसरो
परमातम अविच्छेद सुज्ञानी

सुमतिनाथ भगवान् के गुणगान की वेला में स्वय की मति को सुव्यवस्थित बना लेनी चाहिये । श्री सुमतिनाथ भगवान् के चरणो मे जिसने अपनी आत्मा की अर्पणा की है वह ससार के समग्र स्वरूप को अर्पण रूप में बना लेता है। ऐसा व्यक्ति अपनी आत्मा को भी उन्नति पथ पर अग्रगामी बना लेता है।

आत्मा द्रव्य रूप से एक सी रहती है लेकिन पर्याय रूप में परिवर्तनशील होती है। इस की जो पर्यायें विभिन्न रूपों में बदलती हैं उसी में ससार का स्वरूप रहा हुआ है तो वही पयार्य मोक्ष का स्वरूप ग्रहण करती है। आत्मा की एक पर्याय ही उस के पतन का रूप होती है तो उसी की अन्य पर्याय उन्नति का रूप बन जाती है। आत्मा की जो पर्यायें हैं वे उसके स्वरूप की दृष्टि से है। स्वरूप शुद्धि की तरफ जो आत्मा का गमन है वही उसकी उन्नति है तथा स्वरूप शुद्धि की तरफ गमन करने मे ही आत्मा बाहर से अपने को समेट कर अन्दर में केन्द्रित करती है तथा अन्दर में अपने स्वरूप का दर्शन और परिमार्जन करती रहती है। यही परिमार्जन जब परिपूर्ण रीति से हो जाता है तो आत्मा अपने स्वरूप में परम बन जाती है।

द्रव्य से एक आत्मा
पर्याय से तीन आत्माएँ

ठाणाग सूत्र के प्रथम अध्ययन के प्रथम सूत्र के प्रसग से शास्त्रकारों ने कहा है– एगे आया' अर्थात् आत्मा एक है। सामान्य दृष्टि से आत्मा के उपयोग की दृष्टि से द्रव्य रूप आत्मा एक ही है और पर्याय की दृष्टि से असख्य प्रदेशों वाली है। एक आत्मा की भी जब एक और अनेक स्थितियों हैं और सब आत्माओं की अपेक्षा से चिन्तन किया जाय तो वहाँ पर भी एक और अनेक का प्रसग आता है। एक और अनेक के प्रसग में अनन्त आत्माओं का समावेश हो जाता है।

फिर भी शास्त्रकारों ने 'एगे' आत्मा कहा– यह सभी आत्माओं में रहे हुए एकात्मीय भाव को लेकर कहा है। सभी आत्माएँ द्रव्य रूप से मूल में सम-स्वरूपी होती है– यह उनकी एकात्मीयता है। दूसरे जब कोई आत्मा उन्नति पथ पर अग्रसर होती है तो अपने विचार वचन एव व्यवहार से ससार की सभी आत्माओं को अपनी ही आत्मा के तुल्य देखती है– यह भी एकात्मीय भावना के फलस्वरूप ही होता है। आत्माओ की यह एकता मूल में है तो आत्मा के चरम विकास में भी निहित है। इस दृष्टि से आत्मा एक कही गई है।

लेकिन गुणों की दृष्टि से आत्माओं को विभिन्न श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं। आत्माओं की जो गुणशीलता होती है उसी से उनकी विभिन्न पर्यायों का निर्माण होता है। विभिन्न पर्यायों के सदर्भ में ही यह देखा जाता है कि अमुक आत्मा मार्गहीन होकर भटक रही है मार्ग पर गमन कर रही है अथवा अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच गई है। जैसे उन्नति की पर्यायों में आत्मा का स्वरूप उज्ज्वल से उज्ज्वलतर तथा उज्ज्वलतर से उज्ज्वलतम बन जाता है वैसे ही अपने पतन की पर्यायो में आत्मा अपने स्वरूप को अधिकाधिक मलिन भी बनाती जाती है।

ससार की चारों गतियों में रहने वाली जितनी आत्माएँ हैं– चाहे वे नरक में हैं मनुष्य लोक या तिर्यच लोक में हैं अथवा स्वर्ग में हैं तथा उसके बाद मोक्ष का क्रम आता है जहाँ गति नहीं है चरम स्थान है एव मोक्ष की चरम सीमा है उन सब आत्माओं का तीन प्रकार से विभक्तिकरण किया गया है। तीन विभाग इस प्रकार हैं– एक बहिरात्मा दूसरी अन्तरात्मा तथा तीसरी परमात्मा। आत्मा के साथ शरीर तो जिस जाति में है वैसा ही रहेगा। मनुष्य का शरीर है तो मनुष्य की आकृति सामान्य रूप से सब में पाई जायगी। लेकिन मनुष्य के भीतर का दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न तरीकों से चलेगा। ये तीन विभाग भीतर के भावना चक्र

पर आधारित हैं। भावनाओं में परिवर्तन के अनुसार पर्यायों में परिवर्तन आता रहता है। अपनी ही मनोदशा तथा विचार सरणियों में आत्मा बाहर से अन्दर तथा अन्दर से बाहर होती रहती है और जब विचार सरणि उत्कृष्टतम स्थिति तक पहुँच जाय तो आत्मा की डोलायमान अवस्था समाप्त होकर वह परम ज्ञानी– केवलज्ञानी हो जाती है। उसका परम स्वरूप प्रकाशित हो जाता है।

आत्मा की पर्यायों को समझने के लिये तथा उसको उन्नतिशील पर्यायो में गतिशील बनाने के लिये भावनात्मक आधार एव उसके स्वरूप को प्रमुख रीति से हृदयगम करना चाहिये तथा उस की विशुद्धता तथा श्रेष्ठता का निर्माण करना चाहिये।

आत्मा का बाहर ही बाहर भटकाव
बहिरात्मा का स्वभाव

आत्मा जो अपने निज के स्वरूप में रमण नहीं करती है बल्कि बाहर ही बाहर पौद्गलिक ससार में परिभ्रमण करती है– यह उसकी स्वस्थ गति नहीं होती बल्कि उसका भटकाव होता है। इस बाहर के भटकाव की वजह से उसका बर्हि स्वरूप है। बहिरात्मा का स्वभाव हो जाता है कि वह बाह्य पदार्थो की ममता में उलझती रहती है। वास्तविक रूप से इसे आत्मा का विभाव कहना चाहिये क्योंकि मूल आत्मा का जो स्वभाव होता है वही उसका अपना भाव कहला सकता है। जो बातें अपने मूल स्वभाव के विपरीत आत्मा पकड लेती है अपनी भटकाव की दशा में– वे उसकी स्वभाव रूप नहीं होकर विभाव रूप होती है। स्वभाव से विपरीत को विभाव कहते हैं और जितना आत्मा का विभाव में चलना होता है वह सब आत्मा का भटकाव कहलाता है।

बहिरात्मा का स्वरूप ऐसा होता है कि वह मनुष्य बाहरी वस्तुओं को ही सब कुछ मानकर चलता है। दिखाई देने वाले पदार्थो पर ही उसका श्रद्धान् होता है और वह यह सोचता है कि जो कुछ है सौ यह शरीर ही है तथा इस शरीर को सुख पहुँचाने वाले इससे सम्बन्धित पदार्थ ही हैं। उसकी ऐसी ममता उसके मन में यह लालसा जगाती है कि वह इन दिखाई देने वाले सुखदायक पदार्थो को अधिक से अधिक मात्रा में एकत्रित एव सचित करे। अपने शरीर के लिये ही अधिक से अधिक सुख सुविधाओं का सयोग जुटावे। परिवार एव सामाजिक क्षेत्रों में लोक रीति रिवाजों के जरिये अपने ऐश्वर्य की छाप छोडे। सार्वजनिक प्रसग से अपने आस पास के वातावरण में अपनी बाहर की शान

द्रव्य से एक आत्मा
पर्याय से तीन आत्माएँ

ठाणाग सूत्र के प्रथम अध्ययन के प्रथम सूत्र के प्रसग से शास्त्रकारों ने कहा है– एगे आया' अर्थात् आत्मा एक है। सामान्य दृष्टि से आत्मा के उपयोग की दृष्टि से द्रव्य रूप आत्मा एक ही है और पर्याय की दृष्टि से असख्य प्रदेशों वाली है। एक आत्मा की भी जब एक और अनेक स्थितियाँ हैं और सब आत्माओं की अपेक्षा से चिन्तन किया जाय तो वहाँ पर भी एक और अनेक का प्रसग आता है। एक और अनेक के प्रसग में अनन्त आत्माओं का समावेश हो जाता है।

फिर भी शास्त्रकारों ने 'एगे' आत्मा कहा– यह सभी आत्माओं में रहे हुए एकात्मीय भाव को लेकर कहा है। सभी आत्माएँ द्रव्य रूप से मूल में सम-स्वरूपी होती है– यह उनकी एकात्मीयता है। दूसरे जब कोई आत्मा उन्नति पथ पर अग्रसर होती है तो अपने विचार वचन एव व्यवहार से ससार की सभी आत्माओं को अपनी ही आत्मा के तुल्य देखती है– यह भी एकात्मीय भावना के फलस्वरूप ही होता है। आत्माओं की यह एकता मूल में है तो आत्मा के चरम विकास में भी निहित है। इस दृष्टि से आत्मा एक कही गई है।

लेकिन गुणों की दृष्टि से आत्माओं को विभिन्न श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं। आत्माओं की जो गुणशीलता होती है उसी से उनकी विभिन्न पर्यायों का निर्माण होता है। विभिन्न पर्यायों के सदर्भ में ही यह देखा जाता है कि अमुक आत्मा मार्गहीन होकर भटक रही है मार्ग पर गमन कर रही है अथवा अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच गई है। जैसे उन्नति की पर्यायों में आत्मा का स्वरूप उज्ज्वल से उज्ज्वलतर तथा उज्ज्वलतर से उज्ज्वलतम बन जाता है वैसे ही अपने पतन की पर्यायों में आत्मा अपने स्वरूप को अधिकाधिक मलिन भी बनाती जाती है।

ससार की चारों गतियों में रहने वाली जितनी आत्माएँ हैं– चाहे वे नरक में हैं मनुष्य लोक या तिर्यंच लोक में हैं अथवा स्वर्ग में हैं तथा उसके बाद मोक्ष का क्रम आता है जहाँ गति नहीं है चरम स्थान है एव मोक्ष की चरम सीमा है उन सब आत्माओं का तीन प्रकार से विभक्तिकरण किया गया है। तीन विभाग इस प्रकार हैं– एक बहिरात्मा दूसरी अन्तरात्मा तथा तीसरी परमात्मा। आत्मा के साथ शरीर तो जिस जाति में है वैसा ही रहेगा। मनुष्य का शरीर है तो मनुष्य की आकृति सामान्य रूप से सब में पाई जायगी। लेकिन मनुष्य के भीतर का दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न तरीकों से चलेगा। ये तीन विभाग भीतर के भावना चक्र

पर आधारित हैं। भावनाओं मे परिवर्तन के अनुसार पर्यायों में परिवर्तन आता रहता है। अपनी ही मनोदशा तथा विचार सरणियों में आत्मा बाहर से अन्दर तथा अन्दर से बाहर होती रहती है और जब विचार सरणि उत्कृष्टतम स्थिति तक पहुँच जाय तो आत्मा की डोलायमान अवस्था समाप्त होकर वह परम ज्ञानी– केवलज्ञानी हो जाती है। उसका परम स्वरूप प्रकाशित हो जाता है।

आत्मा की पर्यायों को समझने के लिये तथा उसको उन्नतिशील पर्यायों में गतिशील बनाने के लिये भावनात्मक आधार एव उसके स्वरूप को प्रमुख रीति से हृदयगम करना चाहिये तथा उस की विशुद्धता तथा श्रेष्ठता का निर्माण करना चाहिये।

आत्मा का बाहर ही बाहर भटकाव
बहिरात्मा का स्वभाव

आत्मा जो अपने निज के स्वरूप में रमण नहीं करती है बल्कि बाहर ही बाहर पौद्गलिक ससार में परिभ्रमण करती है– यह उसकी स्वस्थ गति नहीं होती बल्कि उसका भटकाव होता है। इस बाहर के भटकाव की वजह से उसका बर्हि स्वरूप है। बहिरात्मा का स्वभाव हो जाता है कि वह बाह्य पदार्थो की ममता मे उलझती रहती है। वास्तविक रूप से इसे आत्मा का विभाव कहना चाहिये क्योंकि मूल आत्मा का जो स्वभाव होता है वही उसका अपना भाव कहला सकता है। जो बातें अपने मूल स्वभाव के विपरीत आत्मा पकड़ लेती है अपनी भटकाव की दशा में– वे उसकी स्वभाव रूप नही होकर विभाव रूप होती है। स्वभाव से विपरीत को विभाव कहते हैं और जितना आत्मा का विभाव में चलना होता है वह सब आत्मा का भटकाव कहलाता है।

बहिरात्मा का स्वरूप ऐसा होता है कि वह मनुष्य बाहरी वस्तुओं को ही सब कुछ मानकर चलता है। दिखाई देने वाले पदार्थो पर ही उसका श्रद्धान् होता है और वह यह सोचता है कि जो कुछ है सौ यह शरीर ही है तथा इस शरीर को सुख पहुँचाने वाले इससे सम्बन्धित पदार्थ ही हैं। उसकी ऐसी ममता उसके मन मे यह लालसा जगाती है कि वह इन दिखाई देने वाले सुखदायक पदार्थो को अधिक से अधिक मात्रा में एकत्रित एव सचित करे। अपने शरीर के लिये ही अधिक से अधिक सुख सुविधाओं का सयोग जुटावे। परिवार एव सामाजिक क्षेत्रों में लोक रीति रिवाजों के जरिये अपने ऐश्वर्य की छाप छोडे। सार्वजनिक प्रसग से अपने आस पास के वातावरण में अपनी बाहर की शान

बनावे और अन्यान्य लोगों को अपनी और आकर्षित करके अपनी लौकिक प्रतिष्ठा का प्रसार करे ताकि बाहर की दुनिया चाहे आतक और दबाव से ही हो– उसको सम्मान की दृष्टि से देखे। एसी बहिरात्मा को लालसाएँ और इच्छाएँ होती है। वह ऐसी आकाश के समान अनन्त इच्छाओं के वशीमूत होकर ससार की परिधि में भटकती रहती है।

ऐसी ही अनन्त इच्छाओं की वितृष्णा में मनुष्य जीवन की अधिकाश प्रक्रियाएँ सचालित होती हैं। बहिरात्मा का हर्ष अथवा विषाद इन्हीं इच्छाओं की पूर्ति अथवा आपूर्ति पर आधारित होता है लेकिन हकीकत में बहिरात्मा विषाद मे ही ज्यादा डूबी रहती है। तृष्णा का आरपार नहीं होता– एक इच्छा पूरी हो भी जाती है और उसका हर्ष महारस भी नहीं होता उससे पहले ही अन्यान्य इच्छाओं के पूरी न हो पाने का विषाद उसे घेर लेता है। काई भी इच्छा पूरी नहीं होती है तो बहिरात्मा रोती चिल्लाती है।

बहिरात्माओ का हर्ष और विषाद उनकी आतुरता और उनके अभाव

बहिरात्माओं की दृष्टि बाहर ही बाहर दौडती है तथा बाहरी पदार्थो की अवस्था पर ही उनका हर्ष और विषाद निर्भर करता है। धन और परिजन की जहाँ क्षति होती है वहाँ वे शोकातुर बन जाती है। धन की क्षति चोर लुटेरों से भी हो सकती है तो सरकार के अकुश से भी। धन के चले जाने पर मनुष्य कितना आर्त्तध्यान में डूबता है कितना विषाद करता है तथा कितना रोता चिल्लाता है बल्कि इससे उसके शरीर पर भी भारी बुरा असर पड़ता है। चिन्ता के ऐसे समय में धन का मोह शरीर मोह से भी अधिक हो जाता है। धन खोने पर या न पा सकने पर भूख प्यास गायब हो जाती है आकृति कुम्हला जाती है और भारी शोक सताप में कभी-कभी मनुष्य इतना रोगी बन जाता है कि ससार से ही चल बसता है। इतना उसका आकर्षण धन के प्रति होता है।

बहिरात्माएँ इस धन लालसा के पीछे अनीति करती है अन्याय की कालिमा मे लिपटती है तो तरह-तरह के अपराधों के जाल में फसती हैं। ऐसे बहुतेरे मनुष्यों के रूपक आप देख रहे होंगे। ऐसे मनुष्यों को धर्म कर्म कुछ नहीं सुहाता– एक मात्र धन सुहाता है। आन्तरिक जीवन की बात उनको पसन्द नहीं पडती और सन्तों के सम्पर्क में जाना भी वे ठीक नहीं समझते हैं। दिन रात का सारा समय वे वहीं पर बिताना चाहते हैं जहाँ पर धन की प्राप्ति हो सकती हो।

ऐसे लोगों का सारा ध्यान बाहर ही लगा रहता है। बहिरात्माओ का ऐसा ध्यान बहिर्ध्यान कहलाता है।

बहिर्ध्यान में ही उनका हर्ष और विषाद फूटता है तो उसमें ही उनकी आतुरता बनी रहती है। इसी ध्यान मे लगे रह कर वे मनुष्य-तन मे रहते हुए भी अपने आन्तरिक जीवन मे कोई भी विकासोन्मुख परिवर्तन नहीं ला सकते हैं। उनका यह अमूल्य आयुष्य जब समाप्त होता है तो उसके बाद उनको छोटी और नीची जिन्दगी मिलती है जहॉ से पुन मनुष्य रूप मे आने में बहुत बड़ी कठिनाई होती है। मनुष्य धन की लालसा में अपने इस दुर्भाग्यपूर्ण भविष्य को नही देखता है– अपने जीवन के ह्रास की ओर से वह सावधान नहीं होता है और इसलिये वह अनेक प्रकार के क्रूर कर्मो मे अपने आपको प्रवृत्त बना लेता है। ससार में जितने भी अत्याचार अन्याय शोषण आदि की जितनी प्रक्रियाऍ चल रही हैं वे इस प्रकार के बहिर्ध्यान के कारण ही हैं। सासारिकता में गहरे तक डूबी हुई बहिरात्माओं का जीवन इसी प्रकार के पतनोन्मुखी कार्यो मे व्यतीत होता है। उनको कितनी ही सावधानी दिलाई जाय अपने आपको बदलने की जानकारी कराई जाय पर वे मानवीय धरातल पर खड़े होने मे भी अपनी असमर्थता का अनुभव करती है। उनके जीवन में आत्मीय गुणों का अभाव बना रहता है। बहिध्र्यान में उनकी आतुरता उनको इस अभाव की ओर देखने भी नहीं देती। बहिरात्माओं की यही सबसे बडी दुर्बलता होती है।

बहिर्ध्यान मे डूबी बहिरात्माएँ मिथ्यात्त्व के थपेडो म

बहिर्ध्यान में डूबी बहिरात्माओं के कोरे बाह्य जीवन से ससार का कितना कुछ अकाज होता है– उसके स्वरूप की स्थिति का दिग्दर्शन कथन से नहीं उनके व्यवहार से भलीभाति किया जा सकता है। बहिर्ध्यानी मनुष्य अपने परिवार के सदस्यों के साथ में भी भला व्यवहार नहीं कर सकते हैं– भाई और भतीजों के बीच मे कितना कुछ सघर्ष छिडता है तथा कितनी मुकदमेबाजी होती है– ये दृश्य आप रात दिन देखते हैं और बातें तो दूर रही केवल एक हाथ जमीन के लिये सारी आन्तरिकता और निकटता को खोकर ये लोग एक दूसरे के खून तक के प्यासे हो जाते हैं। क्या वह जमीन किसी के साथ चलती है ? जमीन तो जमीन की जगह रह जाती है लेकिन बहिरात्माऍ कालुष्य और कटुता क पहाड खडे कर देती हैं। चूकि बहिरात्माएँ बाह्य पदार्थो को ही सब कुछ मानकर चलती हैं और उसी के दुष्परिणाम में कुटिल और विघटनकारी दृश्य

उपस्थित होते हैं।

परिवार मे बहिर्ध्यान का रूपक देखने की स्थिति में जावें तो वे बहुतेरे मिल जायेंगे। महाभारत का सारा रूपक इसी सदर्भ में आ जाता है। महाभारत किसलिये छिड़ा था ? पाचों पाडव भाइयो को उनके हक की जमीन नहीं देने के लिये ही तो छिडा था। दुर्योधन ने कह दिया कि सुई की अर्णी (नोक) पर आवे उतनी जमीन भी मैं बिना युद्ध के देने को तैयार नहीं हूँ। क्या वह जमीन अकेले दुर्योधन की थी ? जमीन उसकी नहीं थी लेकिन वह मानता था कि सारी जमीन उसी की है। बहिर्ध्यान की ममता मनुष्य को अधा बना देती है। जो वस्तु जिसकी नहीं है उसको अपनी मान लेना– यही विपरीत ज्ञान है तथा इसी को मिथ्यात्त्व कहते हैं।

बहिर्ध्यान में डूबी बहिरात्माएँ मिथ्यात्त्व के थपेड़ों में रात दिन इधर से उधर डोलायमान बनी रहती हैं। मिथ्यात्त्व उनकी मति भ्रष्ट कर देता है तथा सुमति को पनपने ही नहीं देता है। मिथ्यात्त्व की बड़ी-बडी परिभाषाएँ शास्त्रकार समझाते हैं लेकिन मैं समझता हूँ कि जिन्होंने शास्त्रीय ज्ञान की वर्णमाला की भी जानकारी कर ली है वे मिथ्यात्त्व के स्वरूप को समझ सकते हैं। पच्चीस बोल के थोकड़े में मिथ्यात्व का उल्लेख आया है तथा उसे दस प्रकार का बताया गया है। वह दस प्रकार का मिथ्यात्त्व है– 1 जीव को अजीव श्रद्धे तो मिथ्यात्त्व 2 अजीव को जीव श्रद्धे तो मिथ्यात्त्व 3 धर्म को अधर्म श्रद्धे तो मिथ्यात्त्व 4 अधर्म को धर्म श्रद्धे तो मिथ्यात्त्व 5 साधु को असाधु श्रद्धे तो मिथ्यात्त्व 6 असाधु को साधु श्रद्धे तो मिथ्यात्त्व 7 ससार के मार्ग को मोक्ष का मार्ग श्रद्धे तो मिथ्यात्त्व 8 मोक्ष के मार्ग को ससार का मार्ग श्रद्धे तो मिथ्यात्त्व 9 आठ कर्मों से मुक्त को अमुक्त श्रद्धे तो मिथ्यात्व तथा 10 आठ कर्मों से अमुक्त को मुक्त श्रद्धे ता मिथ्यात्व।

बहिरात्मा का यह वैभाविक स्वरूप हो जाता है कि वह मिथ्या को सत्य मानने लग जाती है। जीव धर्म साधु, मोक्ष एव सिद्ध के सही स्वरूप को वह नहीं समझती तथा उल्टे रास्ते पर चलती है। कुदेव कुगुरु तथा कुशास्त्र पर विश्वास रख कर वह अपने जीवन को मिथ्यात्त्व से कलकित बनाती रहती है। मिथ्यात्त्व के ये थपेड़े उसे ससार के महासागर में गोते खिलाते रहते हैं।

आत्मा की सुमति से
गति बाहर से अन्दर की ओर

भगवान् सुमतिनाथ के चरणों में बैठकर जब आत्मा यत्किंचित् रूप से भी सुमति को ग्रहण करती है तो उसे अपने बाह्य रूप पर विचार होता है ग्लानि

पैदा होती है और तब वह अपनी गति को बाहर से अन्दर की ओर मोडती है। अन्दर की गहराई में जब वह उतरती है तभी उसे बाहर की निस्सारता समझ में आती है। बाहर के दृश्य कितने खोखले होते हैं– इसको वह भलीभाति महसूस करने लगती है। इसी अनुभूति के साथ आत्मा में अन्तर्जागृति उत्पन्न होती है। वह देखती है कि उसका मूल स्वरूप क्या है और उसका वर्तमान स्वरूप क्या बना हुआ है ? उसको मोक्ष की किस दिशा मे गति करनी चाहिये और वह सासारिक मोह ममत्त्व की किस विपरीत दिशा में नीचे गिरती जा रही है ? यह आत्म-जागृति अन्तरावलोकन कराती है।

अन्तरावलोकन के साथ अपने जीवन का सशोधन करने वाली आत्माएँ बाहर को सकुचित परिधि से निकल कर अन्तर्जगत् के असीम क्षेत्र में विचरण करने लगती हैं तो वे अन्तरात्मा का स्वरूप ग्रहण करना आरभ कर देती हैं। इस स्वरूप की परिपुष्टता के साथ उन आत्माओं की श्रेणी बदल जाती है– पर्याय परिवर्तित हो जाती है। वे तब बहिरात्मा नहीं रहती– अन्तरात्मा बन जाती हैं। बाहर का शरीर– रूप रग वैसा ही रहता है लेकिन अन्तरात्मा की भावना तथा व्यवहार शैली परिवर्तित हो जाती है। अन्तरात्मा तब सासारिक प्रलोभनो से विलग हो जाना चाहती है क्योंकि उसकी धन पद या यश प्राप्त करने की लालसा मन्द हो जाती है। आपके सामने वकील साहब डूगर सिह जी बिराजे हुए हैं। इनको उनकी धार्मिक सेवाओं के सम्मान में साधुमार्गी समाज ने मान पत्र देना चाहा तो ये उस सम्मान समारोह में पहुँचे ही नहीं। व्याख्यान के समय किसी बाल बच्चे ने टट्टी-पेशाब कर दिया है तो ये अपने हाथ से उसको साफ कर लेंगे। यह उनके आन्तरिक जीवन का नमूना बता रहा हूँ। वैसा ही जीवन सामने बैठे जीवनसिह जी कोठारी का है। कई दिनो से यहाँ आये हुए हैं पर सीधी सादी स्थिति से मालूम ही नहीं पडता कि क्या कुछ हैं ? लेकिन बच्चे की स्थिति से अभी आपको पता लग गया कि मिथ्यात्त्व के भेद पूछे तो उस बच्चे ने तुरन्त बता दिये। जिनके माता पिता की आन्तरिकता का विकास हो जाता है उनके बच्चों मे भी वे सस्कार फलते और फूलते हैं और माता-पिता ही जब बहिर्ध्यानी बने रहते हैं तो उनके बच्चो की दशा का क्या पूछना ?

आत्मा की आन्तरिक गति का ही यह सुप्रभाव परिलक्षित हो सकता है कि माता-पिता स्वय सन्तों की सेवा में पहुँचें अपने सस्कारों का परिष्कार करें तथा धार्मिक क्रियाओं में अपने को नियोजित बनावें। उनके परिवर्तन पर ही उनकी सन्तानों का सही परिवर्तन अधिकाशत निर्भर करेगा। जब से चातुर्मास शुरू हुआ है तब से सम्पतमुनि जी ने दो घटा प्रतिदिन धार्मिक शिक्षण के लिये

रख छोडा है। कुछ दिन तक तो आप लोगों की तरफ स उत्साह दिखाया गया परन्तु बाद में सुस्ती आ गई। इससे मालूम होता है कि माता-पिताओं को सन्तान की जितनी चिन्ता होनी चाहिये उतनी नहीं है। सन्त अपना अमूल्य समय दे रहे हैं तो सामायिक प्रतिक्रमण सीखें तथा बहिरात्मा से अन्तरात्मा बनने की चेष्टा करें।

अन्तरात्मा का निर्माण कैसे हो सकेगा ?

मिथ्यात्व का भेद अभी आपने सुना कि जीव को अजीव श्रद्धे और अजीव को जीव श्रद्धे तो वह मिथ्यात्त्व का रूपक होता है। जीव किसको कहते हैं ? जीव उसे कहते हैं जिसमे उपयोग हो। चेतनाशीलता होती है वह जीवन कहलाता है। जीव चेतना एव उपयोग लक्षण वाला सुख दु:ख की वेदना करने वाला पर्याप्ति और प्राण का धर्ता आठ कर्म का कर्त्ता और भोक्ता सदा काल शाश्वत रहने वाला कभी नष्ट नहीं होने वाला और असख्य प्रदेशों वाला होता है। जो जीव है वही आत्मा है। जीव ही शरीर धारण करता है तथा शरीर में रहकर आहार ग्रहण करता है और शरीर को बढ़ाता है। इन सारे लक्षणों से रहित तत्त्व अजीव होते हैं। इसलिये मिथ्यात्त्व इस पहली ही कडी पर जब टूटता है तो श्रद्धान् का सत्य प्रकट होता है। जीव को जीव रूप में श्रद्धान् कर लेने पर आत्म तत्त्व की प्रतीति हो जाती है। जो वस्तुत जिस रूप में नही है उस में उस रूप की प्रतीति ही मिथ्यात्त्व है इसीलिये मिथ्यात्त्व को अंधेपन की सज्ञा दी जाती है। यह अधापन जब खुलता है तो वस्तुस्वरूप को उसके यथार्थ रूप में देख सकने की दृष्टि प्राप्त होती है। यह दृष्टि सम्यक्त्व की दृष्टि होती है।

सम्यक्त्व की दृष्टि सजग होने के साथ-साथ बहिरात्मा अन्तरात्मा का स्वरूप ग्रहण करती जाती है। सम्यक्त्व धारण करके जब अन्तरात्मा अपने आन्तरिक स्वरूप को विकसित करती हुई आगे बढ़ती चली जाती है तो वह चौदह गुणस्थान क्रम में ऊपर से ऊपर के सोपान पर चढ़ती चली जाती है। मिथ्यात्त्व मन्द होता है तो सम्यक्त्व की दृष्टि सजग बनती है। वह दृष्टि उसे व्रतधारी बनाती है एव व्रतों के पालन में ऊपर उठाती है। तब भावनाओं की उत्कृष्टता जन्म लेती है प्रमाद धीरे-धीरे शिथिल होने लगता है और कर्मों की निर्जरा के साथ-साथ ज्ञान का आलोक प्रखर बनता जाता है।

यही अन्तरात्मा के निर्माण का सुव्यवस्थित क्रम होता है। कठिन क्रिया की आराधना से वह अपने पूर्व कर्मो को क्षम करती चली जाती है तो उसकी निर्मलता निखरती जाती है। निर्मलता उस के ज्ञान का सर्वोच्च विकास कर देती है जो केवलज्ञान के रूप में प्रकट होता है। उसके बाद वैसी अन्तरात्मा ही अपनी सर्वश्रेष्ठ श्रेणी परमात्मा की श्रेणी की ओर प्रगतिशील बन जाती है।

अन्तरात्मा से परमात्मा
आत्मा की चरम लक्ष्य-सिद्धि

इसे ही आत्मा की चरम लक्ष्य सिद्धि मानी गई है कि वह अपने स्वरूप को सम्पूर्णतया निर्मल बना कर अन्तरात्मा से परमात्मा की श्रेणी में पहुँच जावे क्योंकि वही चरम स्थिति है जहाँ से फिर ससार में आवागमन नहीं होता है। यही मोक्ष है जहाँ सदा सर्वदा के लिये सिद्धात्मा विराजमान रहती है।

कवि आनन्दघन जी ने सकेत दिया है कि तीन तरह की आत्मा है– बहिरात्मा अन्तरात्मा और परमात्मा। बहिरात्मा की पहिचान बताई है कि वह छोटी-छोटी बाहर की चीजों में उलझती है और अपने बड़े स्वरूप के बिगड़ने की ओर से बेभान बनी रहती है। वह स्वार्थ और ममत्त्व से लिप्त होती है। स्व आचार्य श्री फरमाया करते थे कि एक जारनी बहिन के बच्चे को एक पुरुष अपनी गोद में लेकर बैठा और 'मेरा बच्चा मेरा बच्चा' करता हुआ उसको खेलाने लगा। वह जारनी हसने लगी कि यह जिसको अपना बच्चा समझ रहा है इसको पता नहीं कि वह किसका बच्चा है ? जैसे जारनी उस पुरुष पर हसती है वैसे ही सासारिक ममता भी कहीं आप पर न हसती हो ?

अपने वर्तमान जीवन पर गभीरता से विचार करने की आवश्यकता है। अपने बाहरी रूप की मलिनता को पहिचानें और अन्दर में झाकने का प्रयास करें। यह *प्रयास जितना सफल होगा– जितनी आत्मा बाहर से अन्दर की* गहराई में उतरेगी उतना ही आत्मा का परम स्वरूप निखरने लगेगा। आत्मा की इस चरम लक्ष्य सिद्धि की ओर आपके चरण आगे बढ़ेंगे तभी जीवन मगलमय बन सकेगा।

नोखा
१८ १० ७६

□□□

11

अपने ही घर के खजाने की खोज

सुमति चरण रज ..
आतम बुद्धे कायादिक ग्रह्यो
बहिरातम अघरूप–सुज्ञानी
कायादिक नो हो साखी घर रह्यो
अन्तर आतम रूप सुहानी

इस मनुष्य जीवन की पावन सफलता अपनी ही अन्तरात्मा के स्वरूप को पहिचानने में है। तीन प्रकार की आत्मा में बहिरात्मा का रूप अघ याने पाप रूप माना गया है। अन्तर्ज्ञान की मार्मिक दृष्टि से जब बहिरात्मा के स्वरूप का अवलोकन किया जाता है तो विदित होता है कि वस्तुत किसी भी विकास की अभिलाषिणी आत्मा के लिये उसके बाह्य रूप में भटकते रहना किसी भी रूप में हितावह नहीं होता है।

एक व्यक्ति को खजाना पाने की इच्छा तो है लेकिन वह उसको खोजने के लिये बाहर ही बाहर घूमता रहे लेकिन अपने ही घर के गहरे स्थानों में खजाने की खोज नहीं करे जबकि हकीकत में वहाँ बहुत बड़ा खजाना छिपा हुआ हो तो उस व्यक्ति को क्या कहेंगे ? उसे बुद्धिमान तो नहीं ही कह सकेंगे। इसलिये अपने ही घर के खजाने की खोज सबसे पहले करनी चाहिये।

बाहर ही बाहर भटकना बुद्धिमानी नहीं है

कस्तूरी मृग के समान बाहर ही बाहर भटकना बुद्धिमानी नहीं है। बहुमूल्य कस्तूरी का खजाना मृग की अपनी नाभि में होता है लेकिन उसको इस

तथ्य की सज्ञा नहीं होती है और वह बाहर ही बाहर भटकता रहता है कि उसको कस्तूरी का खजाना मिल जाय। कभी-कभी उस खजाने की खोज मे दौड़ते-दौडते वह अपने प्राण भी त्याग देता है और इस मनोदशा के साथ मर जाता है कि उसे खजाना नहीं मिला। वह बाहर मिलता कहाँ से जबकि खजाना तो उसके ही अन्दर था ? क्या ऐसी ही विभ्रमित अवस्था इस बहिरात्मा की नहीं होती है ?

कवि ने सकेत दिया है कि कौनसी बहिरात्मा है और कौनसी अन्तरात्मा है ? मनुष्य तन के अवयवों में आत्मा एक ही दृष्टिगत होती है। जो चलता है वही देखता है। जो देखता है वही सुनता है और जो सुनता है वही चखता है वही गध लेता है एव वही स्पर्श करता है। पाचों ज्ञानेन्द्रियो का ज्ञान इस मन में समाहित होकर अनुभव में एकरूपता लाता है। ज्ञान के ये पाचों साधन दीखने में भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं। आखें सिर्फ रूप ही देखती है शब्द नहीं सुनती। कान सिर्फ सुनते हैं रूप नहीं देख सकते हैं। जिह्वा रस ही चखती है गध नहीं लेती और नासिका गध ही लेती है स्पर्श नहीं करती। ये पाचों विषय अलग-अलग हैं लेकिन मन जब इनका अनुभव करेगा तो वह अनुभव इन पाचो विषयो को एकरूपता में ढाल देता हैं। पाचों विषयो का मूल मे अनुभव करने वाला मन एक ही है।

इससे ज्ञात होता है कि पाच नालियों से पानी आ रहा है लेकिन जहाँ पानी आ रहा है वह तालाब एक ही है। मन को पाचों इन्द्रियो के माध्यम से ज्ञान होता है और उसी आधार पर मन नानाविध सकल्प विकल्प करके आकाश व पाताल की उडानें भरता है। पाचो इन्द्रियों के माध्यम से जिस प्रकार बाहरी पदार्थो का ज्ञान होता है वैसे ही स्वय शरीर का ज्ञान भी मन करता है और आत्मा भी करती है। भाव मन आत्मा का ही रूप है। बहिरात्मा का लक्षण यह है कि उस समय में वह शरीर को आत्मा मान कर चलती है। वह शरीर से किसी आत्मा को नहीं मानती। शरीर को सब कुछ समझ कर उसी के सुख के लिये जो सारे क्रिया कलाप करती है वही बहिरात्मा का रूप होता है। पाच भौतिक तत्त्वों से निर्मित यह शरीर जड़ आत्मा कहा जाता है और पच भूत के नष्ट होने पर याने कि शरीर के नष्ट हो जाने पर सारा जीवन ही नष्ट हो जाता है- यह बहिरात्माओं की धारणा होती है। वे शरीर से भिन्न कोई आत्मा नहीं मानती हैं।

बहिरात्माओं की ऐसी जो धारणा है वह एकदम कस्तूरी मृग की धारणा के समान होती है। जो आत्मा बाहर ही बाहर भटकती है और अपने ही घर के खजाने की खोज नहीं कर पाती है वैसा बहिरात्मा का बहिर्ध्यान किसी

बुद्धिमानी का ध्यान नहीं कहला सकता है।

जीवन को समझने के लिये धरातल को बदलना होगा

बहिरात्मा तो यही धारणा और कल्पना करती है कि शरीर ही सब कुछ है। वह आत्मा के अस्तित्त्व को भी नकारती है। इस तरह के विश्वास के साथ वह अपने शरीर की हिफाजत में ही अपने जीवन की सारी ताकत खर्च कर देती है। वह सोचती है कि जितना ज्यादा इस शरीर को आराम दिया जायगा– इसको बढिया खिलाया जायगा बढ़िया रूप दिखलाया जायगा बढिया गाना सुनवाया जायगा और बढिया स्पर्श सुख दिया जायगा वही श्रेष्ठ कार्य होगा। इस प्रकार के विचार और इस प्रकार की बुद्धि बहिरात्मा की होती है।

इसका कारण यह है कि जिस तरह के धरातल पर खडे होंगे उसके अनुरूप ही दृष्टि दौड़ेगी और धारणा बनेगी। बहिरात्मा जब शरीर के धरातल पर खड़ी होकर दृष्टि और मन को दौडाती है तो वैसे ही दृश्य दिखाई देते हैं। जीवन को तब शरीर में सीमित करके ही देखा जाता है। शरीर है तो जीवन है और शरीर गया तो जीवन भी चला गया ऐसा समझ में आता है। यह धरातल का असर होता है। जिस प्रकार के आधार को मानकर देखा और सोचा जाता है तब दृष्टि और मन उन्हीं सीमाओं के अनुसार चलते हैं। इसलिये जीवन को सही रूप से समझने के लिये धरातल को बदलना होगा। तब शरीर का आधार छोड़कर आत्मा के आधार को पकड़ना और गहराई से समझना होगा।

सकुचित धरातल की वजह से आत्मा का बहिर्रूप अपने ही मूल रूप की सज्ञा खो देता है और इसीलिये यह बहिर्रूप ज्ञानियों द्वारा पाप रूप कहा गया है। ज्ञानीजन कहते हैं कि ऐसा पाप रूप इसी आत्मा का होता है जब वह बाहर ही बाहर भटकती है। लेकिन जब यहाँ आत्मा शरीर के धरातल को छोड़कर अपने स्वयं के धरातल पर खडी होती है और उसके आधार पर अपनी दृष्टि और विचार दशा का निर्माण करती है तब उस समय उस आत्मा का आन्तरिक रूप प्रकट होने लगता है। तब वही आत्मा अन्तरात्मा के रूप में ढलने लगती है। आत्मा पृथक-पृथक नहीं होती है-- उसके रूप पृथक-पृथक नहीं होती है। इस रूपी बहिरात्मा को छोड कर जब अन्तरात्मा में प्रवेश किया जाता है तो वही अन्तरात्मा शरीर के धरातल से पृथक होकर शरीर के वास्तविक रूप को स्पष्टता से देख सकती है। बहिरात्मा को दृश्य शरीर माना जाता है तो आत्मा

का आन्तरिक रूप उसका अन्तर्जीवन होता है।

जीवन बाहर दिखाई देने वाला इजिन ही नहीं होता है बल्कि उसके भीतर बैठा हुआ बाहर से नहीं दिखाई देने वाला ड्राइवर होता है। इजिन को चलता फिरता इसीलिये देख सकते हैं कि उसका ड्राइवर उसको चला रहा होता है। उसी प्रकार जब इस शरीर के ड्राइवर को भी समझने की चेष्टा की जाती है तब मानना चाहिये कि धरातल बदलने लगा है और बहिरात्मा अपने बहिर्रूप को मन्द बना कर अपने ही स्वरूप की गहराई में उतरने का यत्न करने लगी है।

अपने घर मे ही गहरी खोज करने की बात

आत्मा जब अपने ही स्वरूप में गहरे उतर कर चिन्तन करती है अपनी ही शक्तियों की शोध करती है तब अपने घर में ही खजाने की खोज करने की बात सामने आती है। जब भी इस अन्तरात्मा का स्वरूप विकसित होने लगता है तब अन्दर का रास्ता बनता है और तब उससे भीतर ही भीतर गहरे उतरने तथा खजाने की खोज करने की कोशिश शुरू होती है। भीतर उतरने का मतलब शरीर के अन्दर के ज्ञान को देखना है तथा खजाने की खोज करने का मतलब अपने ही जीवन में दबी हुई अपार शक्तियों को कर्मठता से प्रकट कर देना है।

इन्सान जब तक बाहरी ज्ञान को ही सब कुछ समझता है तब तक वह आन्तरिकता से अनभिज्ञ ही बना रहता है। लेकिन जब कभी किसी शुभ सयोग से अन्दर में भरे हुए ज्ञान की झलक पा लेता है तो फिर उसे उसकी जिज्ञासा लग जाती है। तब वह अपनी आन्तरिकता की खोज करने लगता है और एक दिन उस स्थल तक पहुँच जाता है जिसे अन्तरात्मा कहा जाता है।

आधुनिक युग के वायुमडल में रमने वाले मेरे कई भाई आध्यात्मिक जीवन की तरफ कम लक्ष्य देते हैं। उनका दृष्टिकोण भौतिक जगत् की तरफ होता है जिसके परिणामस्वरूप अपने सारे ज्ञान की कसौटी वे विज्ञान को बना लेते हैं। किसी भी बात को वे सुनते हैं तो सबसे पहले यह जानने की चेष्टा करते हैं कि इसके विषय में विज्ञान क्या कहता है ? किसी भी वस्तु को देखेंगे तो उन का चिन्तन यह होगा कि इसमें विज्ञान क्या खोज कर रहा है ? उनकी बुद्धि भौतिकता में ही दौड़ती रहती है। भौतिकता के धरातल पर से भौतिकता ही

और अन्दर में ही गहरी अभिरुचि लग जायगी। तब आपको जबरदस्ती भी कोई कहेगा कि सिनमा देखें अथवा इन्द्रियों के अमुक-अमुक विषयों का सेवन करो तब भी आपका ध्यान उधर नहीं जायगा। यह अवस्था तभी बनेगी जब स्वस्थ होंगे-- अपनी ही आत्मा की आन्तरिकता का केन्द्र मानकर चलेंगे।

यह कठिन आध्यात्मिकता की स्थिति का विषय आपकी कठिनाई की उपेक्षा करके भी मैं क्यों बता रहा हूँ ? इसीलिये कि आप कुछ न कुछ ध्यान में रख कर महावीर प्रभु के सिद्धान्तों के मार्ग पर आगे बढाने का प्रयत्न करेंगे। वैज्ञानिक भी घूम फिर कर इस मार्ग पर आ रहे हैं तब आपको तो इस मार्ग पर चलना आरम कर देना ही चाहिये। बाहर का व्यक्ति दौड़कर आपका घर देखने आवे और आप उस घर में रहते हुए बाहर भटकते फिरें-- यह कैसी विडम्बना है ? बाहर के व्यक्तियों को आपके घर की तरफ आते हुए देखकर तो आपमें जिज्ञासा जागनी चाहिये कि अपने घर को हम तो गहराई से देख लें।

इस रहस्यपूर्ण सत्य को सदा ध्यान में रखें कि आपक घर में बहुत बड़ा खजाना भरा पड़ा है। इस बड़े खजाने को ढूढना है और प्राप्त करना है तो 'स्व' की शोध करनी होगी। 'स्व' की शोध भीतर में होगी और भीतर में ही उसकी उपलब्धि भी होगी। 'स्व' की जो उपलब्धि है वही आत्मानुभूति से आरम करके आत्म शक्तियों की प्राप्ति तक विस्तृत रूप से फैली हुई है। जो आत्मा की अपार और अतुलनीय शक्तियाँ हैं वही अन्दर का खजाना है। इस खजाने के सामने बाहर के मूल्यवान खजानों का कोई मोल नहीं है। इस खजाने को खोज लेने के लिये बहिरात्मा से अन्तरात्मा में जाना पड़ेगा। आत्मा को बहिर्ध्यान हटाकर अन्तर्ध्यान अपनाना पड़ेगा। बहिर्मुखी वृत्ति का त्याग करके जब अन्तर्मुखी वृत्ति का विकास होगा तमी आन्तरिक प्रगति समव हो सकेगी-- स्वस्थ बनने की प्रक्रिया परिपुष्ट रूप ग्रहण कर सकेगी।

घर के खजाने को खोजने के लिये घर के अन्दर गहरे उतरिये

पहले अपने सकल्प को स्पष्ट बनावें कि आप अपने घर के इस खजाने को खोजना चाहते हैं अथवा नहीं ? क्योंकि सही जिज्ञासा और अभिरुचि के बिना कोई कार्य सम्पन्न नहीं होता है। इस खजाने को खोजने के लिये घर के अन्दर गहरे उतरना होगा और केन्द्रिय बनना पड़ेगा।

वैज्ञानिक जगत् में भी आध्यात्मिक लहर आज इस प्रकार चल रही है कि

यदि युद्ध न हो और शान्ति काल चलता रहे तो वैज्ञानिक भी संहारक शस्त्रों के निर्माण से दूर हटकर भीतर की खोज में लग जायेंगे। आप भी ऐसा प्रयत्न करिये कि आपका ध्यान भी बाहर से भीतर की दिशा में मुड जावे। आप अभी जो बाहरी पदार्थो के विषय में रात दिन चिन्तित रहते हैं उस चिन्ता से धीरे धीरे विलग होते जावें। बाहर को और शरीर का ध्यान छोडने की स्थिति आयगी तभी अन्दर जाने का प्रसग बनेगा। बाहरी पदार्थो को सर्वथा छोडन का कहें तो आप शायद ही छोड सकेंगे लेकिन कम से कम व्यर्थ के पदार्थो का तो त्याग कर ही दें। जितनी वनस्पतियॉ है या सचित्त पदार्थ हैं उन सब का उपयोग तो आप करते नहीं हैं फिर क्यों नहीं कुछ की मर्यादा बाध कर बाकी सबका त्याग कर देते हैं ? यह कोई कठिन त्याग भी नहीं है।

उपभोग के विशाल क्षेत्र में यदि आप अपनी लालसाओं को रोकेंगे तो वह वृत्ति बाहर से भीतर की तरफ मुडेगी और अन्दर में केन्द्रीभूत होगी। अपनी वृत्तियों को बाहर घुमा कर केवल अपनी शक्तियों का दुरुपयोग ही कर रहे हैं– व्यर्थ में बैटरी की लाईट दिन में फैंक रहे हैं जिसका कोई उपयोग ही नहीं है। सोचिये कि दिन में ही बैटरी खर्च कर दी तो रात के अधेरे में कैसे देख सकेंगे ? बैटरी का सही उपयोग अधेरे में ही तो हो सकता है फिर बुद्धिमान किसको समझें– जो अधेरे में लाईट फैंके उसको अथवा दिन में निरर्थक बैटरी खर्च करे उसको ? यह आप स्वय सोचें। बच्चे भी निर्णय निकाल लेंगे कि दिन में बैटरी का उपयोग निरर्थक है और मूर्खता का काम है। वैसे ही इस मनुष्य जीवन की प्राप्त शक्तियों का उपयोग बाहरी पदार्थो को ही प्राप्त करने के लिये जो किया जाता है वह निरर्थक और मूर्खता का काम है। अधेरे में बैटरी का उपयोग करना है वही उसका सही उपयोग है अत इन प्राप्त शक्तियों का घर के अन्दर रहे हुए खजाने को खोजने में सदुपयोग किया जाना चाहिये और उसका पहला चरण है कि आप आत्मस्थ बन कर घर में गहरे उतरें।

बाहर का जितना त्याग करेगे
वही अन्दर का आनन्द होगा

बाहर की लालसाओं को सीमित बनाते हुए उनका जितना त्याग करते जायेंगे उतनी ही आपकी आसक्ति समाप्त होगी और आत्मानुभूति विकसित बनेगी। व्यर्थ के पाप बध को रोक लेंगे तो धीरे-धीरे अन्य पाप प्रवृत्तियों को रोकने की चेष्टा भी आपकी बनेगी। इस तरह मन की शक्ति जो बाहर की

लालसाओं में बिखरी रहती है वह एक रूप और नियत्रित बन कर अन्दर प्रवेश करने देखने और वहाँ स्थित होने के प्रयास को बल देगी। अन्दर की इस प्रक्रिया से आपको अन्तरात्मा के जो दर्शन होंगे उससे अन्दर का अनिर्वचनीय आनन्द प्रस्फुटित होगा।

यह निश्चित है कि आप व्यर्थ के पापों का भी त्याग नहीं करते हैं तो व्यर्थ मे कर्म बध भी करते हैं। अपने उपयोग-परिभोग की सीमाऐं बाध लें तो यह व्यर्थ का कर्म बध रुक सकता है। वैसे भी अन्तरात्मा के स्वरूप को पहिचानने तथा परिमार्जित बनाने के लिये सर्व प्रकारेण भी त्याग को तो अपनाना ही पडेगा। जितना बाहर का त्याग है वही अन्दर का आनन्द है और ऐसा अनोखा आनन्द अन्दर के खजाने के मिल जाने पर ही प्राप्त होता है।

नोखा
१९ १० ७६

□□□

12

अन्तर्मुखी वृत्ति और निर्लिप्तता

सुमति चरण रज आतम अर्पणा
दर्पण जेम अविकार--सुज्ञानी

परमात्मा सुमतिनाथ के चरणों में आत्मा की अर्पणा का प्रसग उपस्थित है। कवि ने प्रार्थना में आध्यात्मिक भावों का उल्लेख किया है। जानते हैं आप कि आध्यात्मिकता का अर्थ क्या होता है ? आत्मा क प्रति अधि होना माने कि उन्मुख होना– यह आध्यात्मिकता है। आध्यात्मिकता को हम अन्तर्मुखी वृत्ति का नाम भी दे सकते हैं जो जीवन को बाहर से समेट कर आन्तरिक जगत् की दिशा में उन्मुख बनाती हैं।

जीवन में बाह्य पदार्थो के प्रति जो लगाव और आकर्षण होता है आध्यात्मिक दृष्टि से वह लगाव लिप्तता का परिचायक होता है। लिप्तता का अर्थ है सासारिकता में लिपट जाना और यह लिप्तता ही मनुष्य को बहिर्मुखी बनाये रखती है। अत अन्तर्मुखी वृत्ति मनुष्य को अपने स्वय के आत्मिक रूप में रमण कराते हुए लिप्तता से भी मुक्ति दिलाती है। अन्तर्मुखी वृत्ति जितनी सूक्ष्म और एकाग्र बनती जाती है आत्मा की निर्लिप्तता भी निखरती जाती है। निर्लिप्तता से आत्मा की मलिनता दूर होती है तथा उसकी उज्ज्वलता प्रखर बनती है। इस कारण अन्तर्मुखी वृत्ति का निरन्तर विकास इस आत्मा के लिये हितावह माना गया है।

आत्मा के सदर्भ मे शरीर का सन्तुलन

अध्यात्म विज्ञान मूलत आत्मा का विज्ञान है। आत्मा के द्वारा प्रकट होने

वाली प्रक्रियाओं से इसी विज्ञान की सहायता से आत्म-बोध किया जाता है। यह जो शरीर है वह रूपी आत्मा का रूप है। इसी रूपी आत्मा के भीतर में होने वाली प्रक्रियाएँ आध्यात्मिकता से सम्बद्ध होती हैं। ये प्रक्रियाएँ भावों की दृष्टि से ऊँची नीची बनती है और जिस रूप मे परिणामों की गतिविधि चलती है उस रूप में आत्म शुद्धि का प्रसग सामने आता है। आत्मा एक होती है। इसकी नेश्राय में अनेक आत्माएँ पैदा हो सकती हैं लेकिन वे आत्माएँ तब तक ही रहती है जब तक मूल शरीर की आत्मा रहती है।

आत्मा के सदर्भ में शरीर के सन्तुलन का दृष्टिकोण स्पष्ट बन जाना चाहिये। शरीर का अस्तित्व उस आत्मा के उस शरीर में रहने तक ही रहता है। एक शरीर में एक आत्मा का रहना उसके आयुष्य कर्म बध के अनुसार होता है। जब तक एक शरीर में आत्मा का निवास रहता है तो वह समूचा शरीर जीवन्त दशा में कार्यरत होता है। आत्म भावों का प्रभाव शरीर पर और शरीर के कार्यकलापों का प्रभाव आत्म स्वरूप पर पड़े बिना नहीं रहता है बल्कि दोनों की एक दृष्टि से एकरूपता होती है। आत्मा के सदर्भ में यदि शरीर का श्रेष्ठ सन्तुलन बैठ जाता है तो वह शरीर भी धर्म साधना का श्रेष्ठ माध्यम सिद्ध होता है। शरीर के सहयोग से जब धर्म साधना परिपूर्ण बनती है तो आत्मा भी अधिकाश रूप में निजत्त्व पर आरूढ़ हो जाती है। निजत्त्व का भान होना ही आत्म शुद्धि का मूल कारण बनता है।

शरीर ही के माध्यम से आत्मा जब बाहर के विषयों में भटकती थी तो वह बहिरात्मा कहलाती थी लेकिन जब शरीर अपनी जगह आ जाता है और आत्मा के अनुशासन को मान लेता है तो वही शरीर आत्म-साधना का माध्यम बन जाता है। तब वही शरीर सन्तुलित बन कर बहिरात्मा को अन्तरात्मा का रूप दिला देता है। एक दिन शरीर का अस्तित्त्व ही समाप्त हो जाता है और आत्मा परमात्मा बन जाती है। इस प्रकार आत्माएँ अपने इन तीन रूपों– बहिरात्मा अन्तरात्मा एव परमात्मा मे विचरण करती हैं।

जहाँ तक जीवन होता है– शरीर और आत्मा का अभिन्न सम्बन्ध होता है। परन्तु दोनों तत्त्व अपने अपने स्थान पर रहें और अपने-अपने कार्यकलापों का सन्तुलन बनाये रख कर समरस गति में चलते जावें तो वे एक दूसरे के सहायक होकर जीवन में उच्च प्रगति का चित्र अंकित कर देते हैं। यह स्थिति आत्मा के अनुशासन में होती है लेकिन जब शरीर आत्मा से भी ऊपर हो जाता है तो वह आत्मा को पतन के मार्ग पर ले जाता है। इसलिये आत्मा के सदर्भ में शरीर का सन्तुलन सही तरीके से बनाये रखना चाहिये।

शरीर का सचालन आत्मा के अनुशासन मे

जैसे एक नट नृत्य करने की दृष्टि से कभी स्त्री की पोषाक सज कर आता है तो कभी पुरुष की पोषाक और कभी किसी अन्य की पोषाक। वह कभी राजा और कभी भिखारी भी बन जाता है। नट एक ही होता है मगर ये उसके अलग-अलग रूप होते हैं। उसी प्रकार आत्मा तो एक ही होती है मगर बहिरात्मा अन्तरात्मा और परमात्मा– ये आत्मा की ही पर्यायें होती हैं। मनुष्य के शरीर में आत्मा एक है लेकिन पर्यायें बदलती रहने से उसी आत्मा के अनेक रूप देखे जा सकते हैं। ज्ञानियों ने इन्हीं अनेक रूपों को इन तीन पर्यायो मे विभक्त कर दिया है। ये तीनों विभाग एक ही आत्मा के आचरण में देखे जा सकते हैं। अलग-अलग आत्माएँ अपनी अलग–अलग शक्ति के रूप में अलग-अलग पर्यायों में रहती हैं।

जिस समय आत्मा का उपयोग– उसका ध्यान केवल दृश्य पदार्थों की तरफ रहता है उस समय सच पूछें तो शरीर प्रमुख बना रहता है और आत्म भाव गौण। इसी कारण शरीर की सुख सुविधाओ पर ही सारा ध्यान केन्द्रित होता है। ऐसे ध्यान में चलने वाली आत्मा बहिरात्मा होती है याने कि आत्मा का ऐसा रूप उसका बहिरूप होता है जब शरीर अपने अनुशासन में आत्मा को चलाना चाहता है और अपनी प्रधानता ऊपर रखता है।

लेकिन जो अपने दृष्टिकोण को बदल कर भीतर में देखने लगता है तो उसे प्रतीति होती है कि यह शरीर स्वय सचालक नहीं बल्कि आन्तरिक शक्ति रूप आत्मा इस शरीर की भी सचालक है। इस कारण शरीर का सचालन आत्मा के अनुशासन मे चलना चाहिये। सही सचालक ही जब सचालन करता है तो उसका सचालन ही सही सचालन होता है। आत्मा की स्वय की अनुभूति जाग जाने पर आत्मा का वर्चस्व स्थापित हो जाता है तथा अनुशासन की बागडोर वह सम्हाल लेती है। ऐसी आत्म-नियत्रण की अवस्था में मनुष्य सोचता है कि बाहर के नाशवान तत्त्व जो बाहर की चमडे की आखो से देखे जाते हैं वे आत्मा के अविनाशी स्वरूप के साथ मेल नहीं खाते हैं।

आत्मा का निज स्वरूप अविनाशी होता है। वह अजर अमर रूप रखने वाली आत्मा शरीर के भीतर शरीर के प्रत्येक अवयव में सर्वत्र व्याप्त हो कर उसी प्रकार रह रही है जिस प्रकार पूरी तरह तप जाने के बाद में लोहे के गोले में उसके अणु-अणु में व्याप्त होकर अग्नि रहती है। वह लोहे का गोला हर जगह

रूपी की परिभाषा के अनुसार उसमें स्पर्श का गुण होना चाहिये। रूपीपना शरीर के साथ रहता है। जब तक रूप है तब तक वर्ण गध रस स्पर्श सब कुछ है। मोक्ष जाने वाली आत्मा का जब शरीर छूट जाता है तो उस आत्मा म वर्ण गध रस स्पर्श नहीं रहेगा। फिर भी उसका अस्तित्त्व तो बना ही रहेगा। परमात्मा में भी असख्य प्रदेश होते हैं ओर अवधान होता है। वस्तु स्वरूप होता है तभी अवधान होता है। अवधान की दृष्टि से एक प्रकार से परमात्मा को रूपी भी कह सकते हैं क्योंकि सिद्ध भगवान् सिद्ध स्वरूप में रमण करते हैं। अपेक्षा दृष्टि से वे अरूपी और रूपी दोनों होते हैं। जैन सिद्धान्त स्याद्वाद को लेकर चलता है एकान्तवाद को लेकर नहीं। इस दृष्टि से शरीर में रहने वाली आत्मा हर किसी के सामने स्पष्ट होती है– चाहिये उसकी प्रतीति की अभिरुचि ताकि वह परिपुष्ट बन कर आत्मानुभूति का रूप लेले।

आत्मा अपने आप में ज्ञान का अनुभव करती है। ज्ञान की शक्ति आत्मा मे ही होती है इसलिये इस ज्ञान की शक्ति को आत्मा प्रत्येक समय में वहन करती है। ज्ञान से ही आत्मा की प्रतीति और अनुभूति होती है– इसके लिये आकार का होना आवश्यक नहीं होता है। जल दिखाई देता है लेकिन उसकी शीतलता क्या दिखाई देती है ? सूर्य दिखाई देता है लेकिन उसकी ऊष्मा क्या दिखाई देती है ? और चूकि शीतलता या उष्मा दिखाई नहीं देती तो क्या उनका तत्काल अनुभव नहीं हो जाता है ? और उनका अनुभव होता है तो उन्हें अस्तित्त्वहीन कैसे कह सकते हैं ? ऐसा ही स्वरूप आत्मा का होता है जो प्रतीति और अनुभूति से सबको सर्वथा स्पष्ट हो सकता है।

आत्मा के अरूपी स्वरूप की तरफ जब ध्यान जाता है तो अन्तरात्मा का दृष्टिकोण बनता है। जो अन्तरात्मा का दृष्टिकोण है उसी का नाम अन्तर्मुखी वृत्ति है। अन्तर्मुखी वृत्ति जब बनती है तो आत्मा के अनुभावों में सम्यक दृष्टिपना आता है। उनमें तब सम सवेग निर्वेद अनुकम्पा और आस्था के आत्मिक गुणों का विकास होता है। अनुकम्पा का अर्थ है दूसरों के दु ख को देखकर स्वय दु खी अनुभव करना एव उनके दु ख को दूर करने का यत्न करना। जो आत्माएँ अन्तर्मुखी बन कर आत्म चिन्तन में तल्लीन बन जाती हैं वे बाहरी पदार्थों के ममत्त्व से भी दूर हो जाती है– लिप्तता से हट जाती है। इस रूप में अन्तर्मुखी वृत्ति से निर्लिप्तता का विकास होता है।

अन्तरात्मा की प्रवृत्ति होती है—
निर्लिप्तता की ओर बढ़ना

अन्तरात्मा बाह्य पदार्थों से जब अपना मुख मोड़ लेती है तो वह उनकी आसक्ति से भी दूर होती जाती है। वे आत्माएँ भले ही बाह्य पदार्थों को काम में लेती हुई दिखाइ देती हैं लेकिन वे उनका उपयोग निर्लिप्त भाव से करती हैं। आप जानते हैं कि भरत चक्रवर्ती छ खड के अधिपति थे और सारा शासन कार्य चलाते थे फिर भी वे निलिप्त भाव से चलते थे। जैसे भरत चक्रवर्ती निर्लिप्त थे, वैसे ही मनुष्य जब निर्लिप्त बनने के मार्ग पर चल पड़ता है तो उसका रूपक भी अन्तरात्मा का बन जाता है।

अभी आप कहाँ बैठे हैं ? आप इस पाडाल मे बैठे हैं। इस वक्त आपकी क्या भाव धारा चल रही है ? इस पाडाल की भूमि के साथ आपका ममत्व भाव नहीं होगा लेकिन जिस मकान को आपने अपना समझ रखा है उसके साथ तो ममत्त्व भाव है न ? इस समय आपके मकान को कोई नुकसान पहुंचावे तो आप को दुख होगा या नहीं ? ग्राम पचायत को सम्पत्ति को कोई नुकसान पहुंचावे तो कितना दुख होगा ? दुख वहीं है जहाँ ममत्व है। ग्राम पचायत की सम्पत्ति से आपने अपने आपको निर्लिप्त मान रखा है तो आपको दुख नहीं होता है उसी प्रकार अगर अपनी समझी जाने वाली सम्पत्ति पर से भी अपना ममत्व हटालें और उससे निर्लिप्त बन जावें तो फिर उसके नुकसान से भी आपको दुख नहीं होगा।

निर्लिप्तता की ओर बढना तथा तटस्थ भाव से रहना— यह अन्तरात्मा की प्रवृत्ति होती है। उसके पास जो कुछ भी सम्पत्ति होती है अथवा जिन किन्हीं पदार्थों को वह अपने उपयोग में लेती है उनके प्रति भी अपनी कोई ममता या लिप्तता नहीं रखती है। ममता या लिप्तता नहीं होती है तो उनके सम्बन्ध में किसी प्रकार का खेद भी नहीं होता है। खेद नहीं होता तो उनकी प्राप्ति पर कोई हर्ष भी नहीं होता है। अन्तरात्मा का ऐसी मन स्थिति में साम्य योग जागृत हो जाता है। ऐसी अन्तरात्मा योगात्मा बन जाती है।

निर्लिप्तता आत्मा को आत्मस्थ बना देती है और आत्मस्थ हो जाने से वह स्वस्थ हो जाती है। स्वस्थ आत्मा ही अपने परिणामो की सर्वोच्चता के साथ परमात्म स्वरूप का वरण करती है।

निर्लिप्तता की अवस्था मे कैसी भव्य निश्चिन्तता होती है ?

निर्लिप्तता की अवस्था में कैसी भव्य निश्चिता होती है– इसके सम्बन्ध में एक घटना याद आ गई है। आगरा के ताजगज में बहुतेरे मकान सम्पन्न व्यक्तियों के हैं। एक बार आधी रात को एक नौजवान लुकता-छिपता और दरवाजो को धक्का देता इसी मोहल्ले में घूम रहा था कि कोई दरवाजा खुल जाय तो वह भीतर घुस कर चोरी करले। आखिर एक कपाट पर उसने ठोकर लगाई और वह खुल पडा। अन्दर घुस कर उसने देखा तो एक व्यक्ति एक चटाई पर बैठा दिखाई दिया। उसको लगा कि वह व्यक्ति बैठा-बैठा नींद ले रहा है सो उसने धीमे से वहाँ जो बर्तन और वस्त्र पड़े थे उनकी एक पोटली बाधी– रुपये पैसे वहाँ नहीं थे। जब वह पोटली उठाने लगा तो वह बड़ी भारी मालूम हुई। बार-बार उसने उसको उठाने की कोशिश की लेकिन वह उससे उठी नहीं। यह देखकर वह व्यक्ति चटाई पर से उठा और उसने सहारा देकर चोर नौजवान को पोटली उठवा दी। वह तो पोटली लेकर भागा भागने की धुन जो थी। उसे ध्यान ही नहीं रहा कि उसको वह पोटली किसने उठवा दी ?

पोटली लेकर वह घर पहुँचा तो उसने अपनी माँ से पोटली जल्दी उतरवाने को कहा। माँ बेटे की चोरी की आदत से बहुत दुखी थी मगर मजबूर भी थी। उस ने पोटली उतरवा कर पूछा– तू ऐसे घर से माल क्यों लाया जहाँ रुपया पैसा कुछ नहीं था ? लेकिन इतनी भारी पोटली तेने उठाई कैसे ? यह बोला– माँ मुझे लगता है कि मकान मालिक ने ही सहारा देकर यह पोटली मुझे उठवाई । माँ को भी ताज्जुब हुआ कि मकान मालिक अपने ही माल की पोटली उठाने में चोर को सहारा दे– ऐसा कौनसा मकान हैं ? माँ को ध्यान आया तो बोली– कहीं तू बनारसीदास कवि के घर तो नहीं चला गया था ? क्योंकि वे अपने ही घर में भी बिल्कुल निर्लिप्त भाव से रहते हैं। तू ने शायद उन्हीं के घर में चोरी की है। वह साधु है और बादशाह का माना हुआ है– कहीं बादशाह तक खबर पहुँच गई तो खैर नहीं।

माँ की बात सुनकर नौजवान घबराया और पोटली उठाकर वापिस उसी घर की ओर भागा। घर में जाकर पोटली उसने नीचे रख दी और कवि जी से माफी मागने लगा। कवि ने कहा– तुमने यह सामान ले जाकर मुझ पर बड़ा उपकार किया था– यह मेरे लिये कटक रूप था लेकिन तुम इसे वापिस क्यों ले आये ? इसे वापिस ले चले जाओ मेरे भाई ! चोर इनकार करता रहा और वे ले जाने को कहते रहे । इस खींचातानी में सवेरा हो गया और आवाज सुनकर कई लोग इकट्ठे हो गये। चोर मन में डरने लगा कि अब तो रगे हाथों

पकड़ा जाऊगा। उधर कवि जी ने सोचा कि चोर ने मेरा उपकार किया तो मेरा मित्र हो गया है इसलिये इसकी मदद करनी चाहिये। आन्तरिक दृष्टि वाले का ऐसा ही विचार बनता है।

लोगों के सामने कवि जी फट बोल पडे– यह मेरा मित्र है बाहर से आया है और उससे बातें करने लगे। लोगों ने समझा कि मित्र ही है और वे चले गये। नौजवान चोर तो पानी-पानी हो गया और कवि जी के पावों में गिर कर कहने लगा–आप ने मुझे पुनर्जन्म दिया है–अब मैं इस अपराध को छोड़ दूगा।

कवि बनारसीदास ने कहा– कोई भी पदार्थ किसी के साथ चलने वाला नहीं है। व्यर्थ में इन पदार्थो के पीछे ममत्त्व रखकर तुमको कष्ट दू यह मुझे अच्छा नहीं लगा– इसलिये पोटली मैंने ही उठवा दी और अब भी तुमको उपकारी मित्र मान रहा हूँ।

वास्तव में जिसका लक्ष्य अन्तर्मुखी बन जाता है उसकी लिप्तता भी समाप्त हो जाती है। उसका जीवन निर्लिप्त बन जाता है और निर्लिप्त बनता है तो पूर्णतया निश्चित भी बन जाता है।

जो निर्लिप्त है, वह निर्विकार है
और निर्विकार आत्मा परमात्मा होती है

आध्यात्मिक ज्ञान का क्या विवेचन किया जाय जो बहिरात्मा से अन्तरात्मा बन जाता है वह दुश्मन को भी गले लगाता है सज्जनों को स्नेही बनाता है तथा जगत् के समस्त प्राणियों को मित्र मानकर चलता है। घर का माल ले जाने वाले को भी शत्रु नहीं मित्र समझता है और बाह्य पदार्थो पर किंचित् मात्र भी ममत्त्व नहीं रखता है। अन्तर्स्वरूप को पकड़ने का दृष्टिकोण तभी बनता है जब अपूर्व अवसर प्राप्त होता है। ऐसे अपूर्व अवसर को प्राप्त करने की भावना से ही आप व्याख्यान स्थल पर आते हैं और बराबर व्याख्यान सुनते जाते हैं फिर भी क्या आपको अपूर्व अवसर नहीं मिलता है ?

उस अपूर्व अवसर को इच्छापूर्वक प्राप्त करें और अपने आपको अन्तरात्मा के रूप में बदलें । अन्तर्मुखी वृत्ति को अपनावेंगे तो आपकी भावना में निर्लिप्तता उत्पन्न होगी। जो निर्लिप्त होता है वही निर्विकार बनता है। निर्विकार हो जाने पर आत्म-स्वरूप परम उज्ज्वल हो जाता है। परम उज्ज्वलता ही परमात्मा स्थिति होती है और निर्विकार आत्मा परमात्मा बन जाती है।

परमात्मा बनने के लिये पहले अपने स्वरूप को बाहर से समेटिये और अन्तरात्मा बनिये । अन्तरात्मा बनेंगे तो आध्यात्मिक सम्पत्ति के स्वामी भी बन जायेंगे।

नोखा २० १० ७६

□□□

13

सगति, वृत्ति एव भविष्य दृष्टि

सुमति चरण रज आतम अर्पणा
दर्पण जेम अविकार सुज्ञानी..

सुमतिनाथ भगवान् के चरणों में प्रार्थना की पक्तियो के माध्यम से भव्य जनो के श्रद्धावनत होने का जो प्रसग है वह बड़ा ही भव्य है।

इस माध्यम से परमात्म-स्वरूप की सगति में पहुँचने का सुअवसर मिलता है। सगति जैसी होगी वैसी ही चित्त की वृत्तियों का निर्माण होगा। बहिरात्मा जब परमात्म स्वरूप की सगति में जाती है तो वह भी उस स्वरूप से प्रभावित हुए बिना नहीं रहती है। वह उस समय स्वरूप तुलना करने लग जाती है तो अन्तरात्मा के रूप में परिवर्तित होना आरम कर देती है और जो अन्तरात्मा है वह अपने साधना पथ पर अधिक एकाग्र होकर गमन करती है। सगति से वृत्ति शोधन होता है तथा वृत्तियाँ जिन अशों में शुद्ध बन जाती हैं उतने ही अशों में उस आत्मा की भविष्य दृष्टि स्पष्टता ग्रहण करती है। आत्मशुद्धि भविष्य दृष्टि की परिचायक बन जाती है।

आत्मा की वृत्तियो-प्रवृत्तियो पर सगति का प्रभाव

आत्मा की वृत्तियों एव प्रवृत्तियो पर सगति का प्रभाव निश्चित रूप से गिरता है। यह आत्मा जिस वस्तु के पास पहुँचती है उस वस्तु के स्वरूप से प्रभावित हुए बगैर नहीं रहती है। जहाँ चैतन्य तत्त्व की सगति उसे प्राप्त होती है तो वहाँ उस चैतन्य स्वरूप के समीप पहुँच कर उसके भीतर के और बाहर के जितने भी गुणों को वह परखती है उन गुणों के प्रभाव से वह प्रभावित भी

बनती है।

ससार के सामान्य वातावरण में भी सगति का प्रभाव बखूबी देखा जा सकता है। एक दुर्गुणी व्यक्ति अपने मन में दुर्गुणों के कलुषमय विचारों को पालता पोषता है और घात प्रतिघात के विचित्र ताने बाने बुनता हुआ अपने वचन एव व्यवहार में भी विविध रूप बनाये रखता है। ऐसे दुर्गुणी व्यक्ति के ससर्ग में चाहे सरल व्यक्ति भी चला जायगा तब वह भी कुछ न कुछ बुरा असर तो ले ही लेगा। तभी तो कहावत बनी है कि काले के पास जो बैठेगा वह वर्ण नहीं उसके लक्षण तो ले ही लेगा। काला हृदय कलुष छोडेगा ही। और जो कलुष की सगति करेगा उसे अपनी शान्ति खोनी पड़ेगी।

दूसरी ओर जितने भी सद्गुणी पुरुष होते हैं उनके जीवन में श्रेष्ठ विचार एव श्रेष्ठ आचरण के कारण बड़ी पवित्रता होती है तथा व्यवहार में सदाशयता होती है। ऐसे पुरुषों की सगति में दुर्गुणी और दुष्ट व्यक्ति भी चला जायगा तो वह कुछ समय के लिये ही क्यों न हो– अपनी दुष्टता भूल जायगा। दुर्मति वाले व्यक्ति के आचरण पर भी उनके गुणों का प्रभाव पडेगा। उसे अपने अशान्त जीवन में भी यत्किंचित् शान्ति का अनुभव होगा। तीर्थंकर देव की परम पवित्रता के सामने सिह भी अपनी क्रूरता भूल जाता है और बकरी के साथ निर्वैर भाव से बैठता है। इस प्रकार सद्गुण या दुर्गुण की सगति में उसके घनत्व के अनुसार वृत्तियों पर असर पड़ेगा ही।

इसी सिद्धान्त के धरातल पर प्रत्येक आत्मा प्रार्थना के माध्यम से परमात्म स्वरूप को अपने स्मृति पटल पर लावे। परमात्मा का जो परम शुद्ध रूप है तथा जो सदा सर्वदा के लिये पवित्र बन चुका है उस पवित्र रूप की प्रार्थना यदि मनुष्य प्रतिदिन करता रहे एव उसक गुणों का चिन्तन करता रहे तो उसकी वृत्तियों एव प्रवृत्तियों में पवित्रता का प्रवेश होगा ही। वह गुण सगति अवश्य प्रभावशाली सिद्ध होगी।

वृत्तियो के प्रमुख प्रकार एव भावना में गुणशीलता

मनुष्य के मन में प्रमुख रूप से दो प्रकार की वृत्तियाँ सचालित होती रहती हैं। एक दुर्वृत्ति होती है तो दूसरी सद्वृत्ति। दुर्वृत्ति के वशीभूत होकर मनुष्य बुराई सोचता है बुराई बोलता है और बुराई करता है। बुराई का नतीजा बुरा होता है और आखिर जाकर बुरा मनुष्य दु खी बनता है। जब तक वह अपनी दुर्वृत्ति को सशोधित नहीं बनाता है तब तक दु खी बना रहता है। इसके विपरीत

सद्वृत्ति वाला मनुष्य स्वय से भी पहले दूसरों की भलाई के लिये सोचता है तथा अपना त्याग करके भी दूसरों की भलाई करता है। वह दूसरों को सुखी बनाता है और उनके सुख को देखकर स्वय भी सुखी होता है। वह अपने जीवन में सदैव सुख और शान्ति के साथ चलता है।

सद्वृत्ति की मूलाधार होती है सन्मति तथा सन्मति सगति से पैदा होती है। जब भगवान् सुमतिनाथ की प्रार्थना की जाती है तो सुमति के खजाने से सुमति अवश्य मिलती है। जो सुमतिनाथ भगवान् की प्रार्थना करते हुए– उनकी सुसगति से आत्मिक गुणों को अपनाते हुए उनके मार्ग पर अपनी आत्मा का अर्पण करते हैं एक दिन वे भी विपुल सुमति के स्वामी बन जाते हैं।

सुमति की साधना में जो अपनी बुद्धि को लगाते हैं उन्हें सुमतिनाथ भगवान् के गुणों से अवश्य ही प्रेरणा मिलती है। तब वह साधक उन गुणों को अपने जीवन में उतारता है और धीरे-धीरे अपनी बुद्धि में वाछित परिवर्तन लाता है। उस परिवर्तन को उसके व्यवहार और आचरण से बाहर वाले भी अनुभव करते हैं। जिसमें पवित्रता का गुण विकसित हो जायगा उसका व्यवहार भी सब के साथ पवित्रता का होगा क्योंकि उसके विचार और वचनों में भी पवित्रता रहेगी। पवित्र बुद्धि वाला याने सुमति वाला व्यक्ति किसी के साथ दुर्भावना का व्यवहार नहीं करता है और वैसे शुभ व्यवहार से दुर्मति वाला व्यक्ति भी प्रभावित होता है तथा अपने दुर्व्यवहार को छोड़ कर सद्व्यवहार करना सीखता है। सुमति का सुप्रभाव दोनों ओर होता है।

सुमति के प्रभाव से वृत्तियों में पवित्रता का समावेश होता है तो भावना में गुणशीलता पनपती है। यह अन्तरात्मा की स्थिति का प्रसग बनता है। इसलिये कवि ने सकेत दिया है कि इस शरीर की भी आत्मा साक्षी है याने कि यह शरीर भी आत्मा का नहीं है। आत्मा को तटस्थ दृष्टा के रूप में तटस्थ भाव से शरीर को देखना चाहिये। जब शरीर को आत्मा से विलग करके देखा जाता है तो सभी बाह्य पदार्थों के प्रति दृष्टि में तटस्थ भाव आ सकता है। शरीर को साधन-सुविधाओं मकान धन वैभव आदि सभी वस्तुओं के प्रति तब मन की वृत्तियों का लगाव कम हो जाता है जो धीरे-धीरे खत्म भी हो सकता है। तब उन वस्तुओं की टूट-फूट से मन की टूट-फूट नहीं होती है अर्थात् व्यर्थ की वस्तुओं के लिये मन कष्ट नहीं पाता है। यह एक प्रकार से तदनुरूप वृत्तियों के निर्माण की तथा भावना में वैसी गुणशीलता विकसित करने की बात है।

आन्तरिक शक्ति के निर्माण से भविष्य दृष्टि का विकास

वृत्तियों एव भावनाओं में जब सद्गुणों का समावेश होता है तो उस व्यक्ति के भीतर उसकी आन्तरिक शक्ति सुदृढ बनती है– वह प्रभावशाली स्वरूप ग्रहण करती हैं। जिस व्यक्ति के जीवन में आन्तरिक शक्ति का निर्माण हो जाता है वह अपने जीवन की समुज्ज्वलता इसी वर्तमान जीवन में प्राप्त कर सकता है। कदाचित् इस जीवन में पूर्व की कोई वैर वृत्ति रही हो तो उसकी समाप्ति के बाद भविष्य में वृत्तियों का सदाशय पूर्ण स्वरूप ही सामने आवेगा। भविष्य के विकास का भी वह स्वय निर्माता बन सकेगा। वर्तमान की क्या– भविष्य की बातें भी जैसे उसके सामने तैरती रहेगी। उसकी भविष्य दृष्टि में सब कुछ जानना सुगम हो जायगा। आन्तरिक शक्ति के निर्माण से भविष्य दृष्टि का समुचित विकास हो जाता है।

भविष्य को अपने सामने देखने की कई विधियाँ होती हैं। लेकिन भविष्य की बात यथार्थ रीति से इस आन्तरिक शक्ति के द्वारा ही जानी जा सकती है। कोई व्यक्ति अपने भविष्य को समझना चाहता है तो वह ज्योतिषियों के पास जाता है। उन्हें अपनी जन्मपत्री दिखाकर भविष्य की बातें जानना चाहता है। ज्योतिषी लोग गणित के आधार पर कुछ बातें बतलाते हैं जिनमें से कुछ मिलती हैं कुछ नहीं मिलती हैं क्योंकि गणित जैसी चाहिये वैसी नहीं निकलती है तो भविष्य का सही अकन नहीं किया जा सकता है। किन्तु यदि सत्वृत्तियों के कारण जिसका जीवन पवित्र बन जाता है तो उस पवित्रता से उस आन्तरिक शक्ति विकास से कुछ अवधिज्ञान की उपलब्धि समव बन जाती है। अवधिज्ञान की उपलब्धि से भविष्य की 'रूपी पदार्थो से सम्बन्धित बातें' देखी जा सकती है। अवधिज्ञान का तात्पर्य यह है कि सुदूर भविष्य की बातों को वह जान सकता है। ऐसी भविष्य दृष्टि विरली ही आत्माओं को प्राप्त होती है क्योंकि इस अवधिज्ञान की उत्पत्ति आवश्यक आन्तरिक शक्ति के निर्माण से ही हो सकती हैं।

कभी-कभी कोई व्यक्ति उस स्तर तक नहीं पहुँचता है लेकिन अपनी निर्मल बुद्धि से भी यत्किंचित् भविष्य दृष्टि प्राप्त कर सकता है। यह उसके मन-मस्तिष्क की प्रशान्तता से सम्बन्धित है। मनुष्य जितना सभी प्रकार से शान्त रहता है उसका मन-मस्तिष्क पवित्र होता है और उस पवित्रता के पटल पर भविष्य का चित्रण आ सकता है। कभी-कभी ऐसे व्यक्ति स्वप्न भी देखा करते हैं जिनमें भावी घटनाओं का सकेत रहता है।

स्वप्न की दृष्टि भी एक विचित्र प्रकार की दृष्टि होती है। स्वप्न बहुतेरे व्यक्ति देखते हैं और यहाँ बैठने वाले व्यक्ति भी शायद कितने ही स्वप्न देख चुके होंगे। गत रात्रि में भी कितने ही व्यक्ति स्वप्न देखकर आये होंगे लेकिन उनमें से कितना क्या याद रहा ? याद नहीं रहा तो क्यों नहीं रहा ? ऐसा क्यों होता है ? अधिकाश स्वप्न तो मानसिक इच्छाओं तथा कल्पनाओं से बनते हैं। इन इच्छाओं में भी अतृप्त इच्छाएँ स्वप्न में प्रकट होती हैं। मनुष्य जो मन में सोचता है तो उसको प्राप्त करने की चेष्टा करता है फिर भी जब वह इच्छित वस्तु को प्राप्त नहीं कर सकता है तो अत्यधिक लगाव के कारण वह उस वस्तु को स्वप्न में देख लिया करता है। उदाहरण के तौर पर यदि चौविहार उपवास कर लिया और रात्रि में जल्दी से प्यास लग गई तो वह सोकर स्वप्न देखेगा कि एक बड़ा सरोवर है वह उसमें डूब रहा है ओर 'पानी पानी' चिल्ला रहा है। पानी पेट में जा रहा है मगर प्यास नहीं बुझ रही है। इस प्रकार का स्वप्न उसके दिन के कार्य या विचार का परिणाम होता है। लेकिन दैनिक चर्या के फलस्वरूप स्वप्न दीखे ही– ऐसा कोई नियम नहीं है।

भविष्य दृष्टि के सदर्भ मे स्वप्नो के स्वरूप पर विचार

स्वप्न कई प्रकार के होते हैं। इनमें भविष्य की सूचना देने वाले स्वप्न भी होते हैं। कोई शुभ घटित होने वाला है अथवा अशुभ– इसका द्योतन करने वाले स्वप्न भी होते हैं। इसका ज्ञान रखने वाला व्यक्ति अशुभ से बच भी सकता है तथा शुभ से लाभ भी उठा सकता है। लेकिन ऐसी क्षमता प्रत्येक व्यक्ति में नहीं होती है। जिसकी सगति श्रेष्ठ होती है वृत्तियों में विशुद्धता आती है तथा आत्मा निर्मल बनती है उसी व्यक्ति के लिये ऐसा प्रसग उपस्थित हो सकता है।

महावीर प्रभु के समीप जाने वाले जितने भी श्रोतागण थे उनमें सब तरह के लोगों के उपस्थित होने का उल्लेख मिलता है। उनमें से कई ऐसे भी थे जिनके मस्तिष्क में रात और दिन प्रभु के शासन की हित कामना चलती थी। यह चतुर्विध सघ तीर्थकरों का बनाया हुआ सघ है। इसमें आर्थिक राजनैतिक और सामाजिक समस्याएँ इतना महत्त्व नहीं रखती जितना महत्त्व आन्तरिक समस्याएँ रखती हैं क्योंकि मूल में आन्तरिकता का ही प्रश्न होता है जिसके आधार पर अन्य सारी समस्याओं का समाधान निकाला जाता है। आन्तरिक समस्या के सही समाधान के बिना सब शून्य रहता है। आन्तरिक जीवन को

पवित्र बनाना यह इस सघ का पहला उद्देश्य है। इसलिये इस सघ के प्रति सबकी हितकामना रहनी चाहिये। ऐसी हितकामना रखने वाले व्यक्ति अपने हृदय में पवित्रता का सचार कर लेते हैं और तब वे जो स्वप्न देखते हैं उनमें भावी घटनाओं का सकेत मिल सकता है तथा सघ का भविष्य भी दिखाई दे सकता है।

स्वप्न के रूप मे ऐसा सकेत कौन देता है ? तरह-तरह के माध्यम हो सकते हैं। कभी शासन हितैषी देवी देवता शासन के हित अर्हत् को अपने अवधिज्ञान से जानकर सम्बन्धित व्यक्ति को स्वप्न के माध्यम से सकेत कर देते हैं जिससे शासन के बारे में भविष्य का आभास होता है। कभी स्वत ही ऐसा प्रसग बनता है जिससे पता चल जाता है कि सुदूर भविष्य में इस सृष्टि के रगमच पर कौनसी घटनाऍं घटित होने वाली है और उनका चित्रण स्वप्न में आ जाया करता है। यह कैसे आता है– इस विषय में बड़ी गहनता की स्थिति है। फिर भी आप थोडी सी स्थिति को ध्यान में लें। कोई सरोवर के किनारे पर खडा होकर पानी में ककर डाले तो उस ककर के गिरते ही पानी में लहरें पैदा हो जाती है जो दूर-दूर तक पहुॅंचती हैं। यदि समुद्र की लहरो का ज्ञान रखने वाली कोई आत्मा है तो वह उस लहर को देखकर ककर का अनुमान लगा लेती है। इस प्रकार का ज्ञान बडा गहरा होना चाहिये। कभी-कभी ऐसी स्थितियॉं भी पृथ्वी पर समुद्र में अथवा विराट आकाश में इस प्रकार की बनती हैं जिन से न्यूनाधिक रूप में भवितव्य की सूचना मिल जाती है। किन्तु ऐसी सूचनाओं को निर्मल बुद्धि वाला व्यक्ति ही ग्रहण कर सकता है– सभी व्यक्तियों के वह सामर्थ्य की बात नहीं होती है। ऐसे प्रसग पूर्व में घटित हुए हैं वर्तमान में घटित होते हैं तथा भविष्य में भी घटित होंगे।

राजा हस्तिपाल के स्वप्न और विचित्र भविष्य दृष्टि

महावीर प्रभु का अन्तिम चातुर्मास राजा हस्तिपाल द्वारा शासित पावापुरी नगरी में हुआ था। हस्तिपाल एक शासननिष्ठ श्रावक थे और यह शासन महावीर प्रभु का आध्यात्मिक शासन था कोई राजकीय शासन नहीं। उस समय हस्तिपाल महाराज द्वारा भी स्वप्न देखने का प्रसग बना जिनका अर्थ विन्यास स्वय महावीर भगवान् ने किया। स्वप्नों के इस प्रसग को प्राय करके दीपावली के दिनों में स्मृति पटल पर लाया जाता है और आज धन तेरस का त्यौहार है जिसके साथ केवन्नाजी का प्रसग भी जुडा हुआ है।

हस्तिपाल के स्वप्न और उनके अर्थविन्यास बहुत कुछ मौलिकता के साथ आज भी उपलब्ध है। यह प्रसग कविता की कड़ियों में गुथा हुआ है जो इस प्रकार है—

हस्तिपाल रा सपना वीर वताविया रे।
अन्तिम धर्म देशना देके मोक्ष पधारिया रे।।

अप्पापुरी प्रभुजी खास हस्तिपाल कचहरी आवास
कुतुमादिक सघ चरम चौमास
दे दे धर्म देशना प्रभुजी भविजन तारियारे।

हस्तिपाल की कचहरी में भगवान् महावीर द्वारा अपने अन्तिम चातुर्मास के निमित्त ठहरने का मतलब है कि किसी उद्यान में नहीं बल्कि नगरी के मध्य में ठहरे हुए थे। यह अन्तिम चातुर्मास था— इस बात से उस समय की जनता पूर्ण रूप से परिचित थी। कारण जिस वक्त गौशालक ने प्रभु महावीर पर उपसर्ग उपस्थित करके तेजोलेश्या छोड़ी थी उस समय के प्रसग से गोशालक और प्रभु महावीर के बीच में जो कुछ सवाद हुआ तथा एक दूसरे के अनुयायियों के बीच में जो कथन हुआ उस से अन्तिम चातुर्मास के तथ्य का पता चल गया था। उस अन्तिम चातुर्मास में महत्त्वपूर्ण धर्म देशनाएँ हुई तथा कई विशिष्ट पुरुषों ने मार्गदर्शन ग्रहण किया। इसी चातुर्मास में हस्तिपाल ने भी अपने स्वप्न प्रभु को सुनाये तथा प्रभु ने उनका अर्थ बता कर भविष्य की रूपरेखा स्पष्ट की।

प्रभु मैं देख्या सपना आठ करि कपि क्षीर तरूका घाट
वायस सिह कमल का ठाठ
बीजोरे कुम आठवों देखी भय मन पामिया रे।

हस्तिपाल ने निवेदन किया— 'प्रभु, मैंने आठ स्वप्न देखे। पहले स्वप्न में हाथी देखा जो बहुत सुन्दर और श्रेष्ठ था लेकिन कीचड़ में फसा हुआ था— 'कोशिश के बावजूद कीचड़ से निकल नहीं पा रहा था।

दूसरा स्वप्न एक बन्दर का देखा जो अपने विशाल परिवार के साथ एक बगीचे में घुस गया जहाँ वह और सभी फलफूल खाते कम थे लेकिन उजाड़ते ज्यादा थे। बगीचा तहस नहस हो रहा था।

तीसरे स्वप्न में एक क्षीर तरु दिखाई दिया। वह क्षीर तरु ऐसे विषैले जन्तुओं से घिरा हुआ था कि कई व्यक्ति जो उससे लाभ उठाना चाहते थे वे लाभ नहीं उठा पा रहे थे।

चौथे स्वप्न में एक कौवे को देखा जिसके चारों ओर सुन्दर-सुन्दर

पकवान पड़े हुए थे मगर वह उनमें अपनी चोंच कम डालता था लेकिन दूर पडी हुई अशुचि में बार-बार चोंच डाल रहा था।

पाचवें स्वप्न में विकराल सिह देखा। उससे सारे जगली जानवर थर-थर काप रहे थे लेकिन उस वनराज के शरीर में कुछ कीड़े पैदा हो गये थे जिनसे वह सिह बहुत ही सत्रस्त हो रहा था।

छठे स्वप्न में एक कमल दिखाई दिया। कमल सामान्य रूप से जल में होता है लेकिन वह कमल उखरड़े (अशुचि का स्थान) पर उगा हुआ था।

सातवा स्वप्न एक किसान का था जो ऐसी ऊसर भूमि में बढ़िया बीज बो रहा था जिस पर एक कण भी पैदा होने की आशा नहीं थी।

आठवा स्वप्न मे ऐसा कुभ कलश दीखा जो मागलिक स्थान पर नहीं बल्कि एक कोने में पड़ा हुआ था जिसको कोई देख तक नहीं रहा था।

ये स्वप्न सुनाकर हस्तिपाल ने निवेदन किया भगवन् मैंने ऐसे स्वप्न क्यों देखें ? इनमें क्या विचित्र भविष्य दृष्टि दिखाई दे रही हैं ? इन स्वप्नों का क्या अर्थ विन्यास है ? यह जानने के लिये मैं आपके चरणों में उपस्थित हुआ हूँ।

स्वप्नो की विचित्रता तथा अन्तर्चेतना की पहिचान

ये स्वप्न एक तरह से विचित्र थे। सामान्यतया भी कई व्यक्ति कई बार विचित्र-विचित्र स्वप्न देखते हैं लेकिन असावधानी से सोच लेते हैं कि स्वप्न तो आते ही रहते हैं उनका कोई फल तो मिलता नहीं है। आज के वैज्ञानिक युग में इन स्वप्नों के सम्बन्ध में गहरा अनुसधान किया जा रहा है। प्रसिद्ध मनोचिकित्सक डॉ ए वी कुहरिच ने स्वप्नों के सम्बन्ध में कई पुस्तकें लिखी हैं। उनकी एक ताजा प्रकाशित पुस्तक है –बियोन्ड टेलीपेथी । इस पुस्तक में एक गृहिणी के साथ गुजरी घटना का चित्रण किया गया है। वह अपने शयन कक्ष में सोई हुई थी। बडे सवेरे उसने एक स्वप्न देखा। स्वप्न बडा विचित्र था। उसने देखा कि उसका पुत्र जॉन कहीं जा रहा था और मार्ग में वह दुर्घटनाग्रस्त हो गया। उसके शरीर से सारा खून निकल गया और वह सफेद हो गया। उठते ही उसने अपने पुत्र का फोन मिलाया तो कहा गया कि वह कहीं बाहर गया हुआ है। दोपहर तक तो उसके बेटे के वहाँ से फोन मिला कि जॉन कार से दुर्घटनाग्रस्त हो गया था लेकिन सयोग से बच गया है। यह घटना बड़े सवेरे ही घटित हुई थी । यह स्वप्न डॉ कुहरिच को बताया गया और उसने इसे टेलीपेथी से भी ऊपर की घटना कहा। ऐसे स्वप्न मानव-मस्तिष्क की ग्रहण

शक्ति से भी सम्बन्ध रखते हैं जो बेतार के तार की तरह दूर की घटनाओं सम्बन्धी सूचना को भी ग्रहण कर लेती है।

यदि सूचना देने वाला तनाव रहित मस्तिष्क से सूचना देगा और सूचना ग्रहण करने वाला शान्त मस्तिष्क से सूचना ग्रहण करेगा तो उसमें दूरी का कोई प्रश्न नहीं रहता– अन्तर्चेतनाऐं आपस में अपना सम्बन्ध जोड लेती हैं तथा अन्तर्चेतना के धरातल पर सवादों का आदान प्रदान हो सकता है।

स्वप्नों की विचित्रता में अन्तर्चेतना की पहिचान मुख्य बात हो जाती है। एक ऐसी ही घटना और है। दो बहिनें थी। वे किसी वैज्ञानिक साधन का उपयोग नहीं करती थी लेकिन लम्बी दूरी पर बैठी हुई भी एक दूसरी से बातें कर सकती थी और एक दूसरी की बातें सुन सकती थी। सैंकड़ों मील की दूरी भी इसमें बाधक नहीं होती थी। वैज्ञानिकों ने परीक्षण किये तो सब कुछ सही निकला। यह क्या विचित्रता है ? मन की एकाग्रता से उत्पन्न शक्ति द्वारा ही ऐसा हो सकता है। स्वप्नों की विचित्रता हो या अन्य प्रकार की विचित्रता– उसमें अन्तर्चेतना की ही सूक्ष्म तरगें कार्य करती रहती हैं जिनकी पकड भौतिक विज्ञान की सहायता से नहीं हो सकती है। उनको समझना है तो महावीर प्रभु द्वारा उपदेशित आध्यात्मिक विज्ञान की वैचारिक एव व्यवहारिक साधना का ही अनुसरण करना होगा।

पचमकाल की विचित्रताएँ
स्वप्नो का महावीर द्वारा अर्थ विन्यास

हस्तिपाल के स्वप्नों का क्रमश' महावीर प्रभु ने अर्थ विन्यास करके पचम काल की विचित्रताओं पर प्रकाश डाला।

पाकर क्षणिक सिद्धि का सुख होंगे मूढ धर्म से मूक
घर में रहकर देवें दु ख
पर चक्री भय पाप न छोडें घर द्वारिया रे।
कदाचित् दीक्षा जो कोई लेवे फिर वे कुसगति में रेवे।
लीधा महाव्रत तोड़ि देवे
विरला पाले सयम प्रकटी करे फल दाखिया रे।

प्रभु महावीर ने पहले स्वप्न का अर्थ बताया कि पचमकाल में उस सुन्दर हाथी के समान गृहस्थ लोग क्षणिक ऋद्धि प्रतिष्ठा आदि तो प्राप्त कर लेंगे किन्तु अभिमान के कीचड में ऐसे फसे रहेंगे जहाँ से निकलना कठिन होगा।

क्षणिक सुख को ही वे प्रमुखता देंगे और धर्म को भुला देंगे। इस अर्थ-विन्यास को आज के जमाने पर लागू करके तो देखिये कि क्या आज ऐसी मनोदशा चल रही है ? देखेगे तो दिखाई देगा कि जीवन में शान्ति नहीं है हार्दिकता नहीं है और धार्मिकता भी नहीं है। दीक्षा लेकर भी साधु अभिमान से छुटकारा नहीं पाता है और महाव्रत तक तोड़ डालता है। यह सब और कीचड वृत्ति क्या वर्तमान युग में नहीं चल रही है ?

कपि स्वप्न का फल है ऐसा गच्छ नायक चचल कपि जैसा
व्रत पालन मे ढीला कैसा
निश्चल धर्मधारी को धर्म से दूर कराविया रे।

दूसरे कपि– स्वप्न का अर्थ यह है कि पचमकाल में धर्म के नाम पर कई सम्प्रदाय और गच्छ कायम हो जायेंगे जिनके नायक बन्दर की तरह चचल वृत्ति के होंगे । वे व्रत पालन में शिथिल होंगे लेकिन धर्म के बगीचे मे तहस नहस ही ज्यादा करेंगे।

क्षीर तरू सम दानी वीर शासन पूजक श्रावक धीर
जिनका हृदय निर्मल नीर
ऐसे श्रावक जन को लिगधारियों ने घेरियाजी।

तीसरे स्वप्न के अनुसार पचमकाल में जो धीर वीर था निर्मल हृदय वाले श्रावक भी होंगे वे विषैले जन्तुओं की तरह लिगधारियों से याने कि प्रपची लोगों से घिरे हुए रहेंगे । ये लिगधारी नामवरी के पीछे दौडेंगे और श्रेष्ठ श्रावकों को भी फुसलाते रहेंगे । वे जमाने के साथ चलने की बात कहेंगे लेकिन साधु वृत्ति पर ज्यादा जोर नहीं देंगे। वे आडम्बरी होंगे और विकृत मनोवृत्ति वाले लोग उनके पीछे हो जायेंगे।

चौथे स्वप्न में देखी गई काक-वृत्ति के अनुरूप लोग मोक्ष मार्ग को समझने के लिये चरित्र सम्पन्न महात्माओं के पास तो कम जायेंगे लेकिन आडम्बरी क्रियाशिथिल तथा नामधारी साधुओं के साथ ज्यादा लगेंगे। धर्म के नाम पर विकार और भ्रष्टता के आचरण को लोग ज्यादा पसन्द करेंगे। मिष्टावृत्ति बढेगी। आज साधुता में भी ऐसा ही घटित हो रहा है। साधु नहीं स्वादु अधिक हो गये हैं रेल मोटर से यात्रा करने लगे हैं तथा परिग्रह भी रखने लगे हैं।

पाचवे स्वप्न में अपने ही शरीर के कीडों से सत्रस्त सिह के समान जिन शासन का अनुयायी शासन के सशक्त सिद्धान्तों के आधार पर शक्तिशाली तो होगा लेकिन अपने ही समाज में पनपने वाली कलुषित एव विकारपूर्ण वृत्तियों

उस शक्ति को निसत्त्व बना देगी।

छठे स्वप्न में कमल की स्थिति के अनुसार बड़े और कुलीन कहलाने वाले लोगों के घरों में वास्तव में त्यागी व्यक्ति अधिक पैदा नहीं होंगे बल्कि कमल उन घरो में पैदा होंगे जिनको सामाजिक मान्यता की दृष्टि से नीच और अकुलीन मानते हैं। उच्च जातियों वाले लोगों में नीचापन और हल्कापन होगा तो उखरड़े पर कमल उपजेंगे। आज आप यह दृश्य देख रहे होंगे कि जिन लोगों को महावीर के सिद्धान्त विरासत में मिले हैं वे तो नींद में सो रहे हैं और दूसरे लोग जो नीची जाति के कहलाते हैं इन सिद्धान्तों को पकड कर अपने जीवन को सुधार रहे हैं।

सातवे स्वप्न का अर्थ बताते हुए भगवान् ने कहा कि पचमकाल में बडे-बडे सेठ अपने धन का अपव्यय करेंगे किन्तु उसका उपयोग सुकृत में मुश्किल से होगा। आज विवाह शादियों और दूसरे आडम्बरों में धन आदि शक्तियों की भयकर बरबादी ही तो की जा रही है। जन जीवन के कल्याण में कितने लोग अपनी शक्ति लगा रहे हैं ?

आठवें स्वप्न में कुभ कलश का रूपक बताया गया कि कुभ कलश के समान सत्यवादी सद्गुणी एव साधु व्यक्ति उपेक्षित पडे रहेगे। लोग उनका मान सम्मान नहीं करेंगे लेकिन जो स्वच्छन्द वृत्ति वाले अनुशासनहीन होंगे वे अपने प्रपचों से अपना सत्कार सम्मान करायेंगे। आज के युग में यह सारा अर्थ विन्यास सच साबित हो रहा है।

पचम काल का रूपक
भविष्यदृष्टा की दृष्टि मे

ये स्वप्न हस्तिपाल महाराज ने देखे थे जो अपूर्ण व्यक्ति थे। अपूर्ण व्यक्तियों को स्वप्न से आभास होता है। पूर्ण व्यक्ति अपने ज्ञान से सारी बातों को जान लेते हैं। भगवान् महावीर ने एक भविष्यदृष्टा की दृष्टि से उन स्वप्नों का अर्थ हस्तिपाल को समझाया। आने वाले पचमकाल की स्थिति का रूपक अपने ज्ञान से देखते हुए प्रभु ने कहा–

एक भविष्य वेत्ता ज्योतिषी या निमित्तिया नगर के राज दरबार में पहुँचा। उसने राजा को भविष्य बताते हुए कहा कि आज से छ माह बाद बरसात से जो पानी बरसेगा और उस पानी को जो भी पीएगा वह पागल हो जायगा। इसके बाद जब तक नया पानी नहीं बरसेगा और उसको वे पागल बने व्यक्ति नहीं पियेंगे तब तक वे पागल बने रहेंगे । इस भविष्यवाणी को सुनकर राजा और

प्रधान ने निश्चित किया कि वर्ष भर पीने के लिये पानी अभी ही एकत्रित कर लिया जाना चाहिये ताकि होने वाली बरसात का पानी नहीं पीना पड़े। राजा ने नागरिकों से भी ऐसा ही करने की अपील की। राजा ने टकियों वगैरा में पानी सचित करा लिया। नागरिकों में से कईयों ने भविष्यवाणी पर विश्वास नहीं किया। छ माह बाद वर्षा हुई और जिसने भी उसका पानी पिया हकीकत मे सभी पागल हो गये। राजा और दीवान पर असर नहीं हुआ लेकिन उनकी स्वस्थ स्थिति देखकर पागलों ने उनको पद से उतार देने की सोची तब राजा और दीवान ने भी पागलों के समान हरकतें करने मे ही अपनी खैर समझी। उसके बाद नई बरसात का नया पानी लोगों ने पिया तब उनका पागलपन दूर हुआ।

पचमकाल भी अभी एक प्रकार के पागलपन का चल रहा है। ससार के विषयों में अधिकाश लोग पागल बने हुए हैं और जो हकीकत में पागल नहीं हैं वे भी पागलों के साथ पागलपन का ढोंग नहीं करें तो उनके साथ उपेक्षा का व्यवहार किया जाता है। इस पचम काल के रूपक का जितना वर्णन किया जाय कम है। यह काल विचित्रताओं से ही नहीं विसगतियों से भी भरा पड़ा है।

सत्सगति का विशिष्ट महत्त्व
वृत्ति एव दृष्टि की शुद्धता

पचमकाल के इस अन्धकार पूर्ण युग में सत्सगति का विशिष्ट महत्त्व माना जाना चाहिये क्योंकि सत्सगति का प्रभाव एक प्रकाश किरण के समान होता है। इस काल में सब कुछ छोडकर अगर केवल एक सत्सगति का ही ख्याल कर लिया तो समझिये कि सब कुछ अपने आप सुधर जायगा। प्रभु सुमतिनाथ की सत्सगति में जाने के लिये सत्गुरुओं की सत्सगति में जाइये क्योंकि गुरु ही गोविन्द को पाने का मार्ग बतावेंगे।

सुधर्म सुदेव एव सुगुरु की सगति आप को मिल गई तो सुगति भी आपको मिल गई क्योंकि सत्सगति से वृत्ति और दृष्टि की शुद्धता प्राप्त हो जाती है। यही शुद्धता परम शुद्धता तक विकसित होती है।

नोखा
२१ १० ७६

□□□

14

आत्म लक्ष्मी की ऋद्धि आत्म दीप की दीप्ति

सुमति चरण रज आतम अर्पणा
दर्पण जेम अविकार–सुज्ञानी

सुमतिनाथ परमात्मा को स्मृति पटल पर लाकर भव्य प्राणी को भी सुमतिनाथ बनने का सकल्प लेना चाहिये। इसी उद्देश्य से परमात्मा की प्रार्थना प्रतिदिन किसी न किसी रूप में आपके समक्ष आ ही जाया करती है।

परमात्मा पद सर्वोच्च पद माना गया है। इस पद को प्राप्त किये बिना परम शान्ति की उपलब्धि नहीं होती है। परमात्म पद की जो साधना है वह परम सुख की साधना है। बाधाओं और आपत्तियों से रहित परमानन्द की अनुभूति इसी साधना में होती है। इसी साधना के फलस्वरूप आत्म लक्ष्मी की ऋद्धि अपार रूप में प्राप्त होती है तो आत्म-दीप की दीप्ति अविचल रूप से अनन्त काल प्रकाशित होती रहती है।

आज दीपावली का त्यौहार है तो क्या आप भी लक्ष्मी की ऋद्धि की कामना नहीं करते हैं ? क्या आप भी दीप की दीप्ति से समग्र वातावरण को आलोकित कर देना नहीं चाहते हैं ? लेकिन यह लक्ष्मी कौनसी हो और यह दीप कैसा हो ? क्या आप की मनोदशा भौतिक लक्ष्मी के पीछे ही है या कि उससे आगे सोचना चाहते हैं ? मिट्टी के दीप को ही समझते हैं या कि चैतन्य दीप का भी ख्याल है ? इसका निर्णय अन्तर्भावों की समीक्षा पर निर्भर करेगा।

अन्तरात्मा की दीपावली उसकी लक्ष्मी उसका दीप

जब तक मनुष्य की बुद्धि बाहरी पदार्थों में सुख ढूढती रहती है– उन्हीं

पदार्थो में शान्ति का आस्वादन लेने की चेष्टा करती है तब तक उसे अन्दर की शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती है। अन्तरात्मा की दीपावली कुछ और ही प्रकार की होती है। उसकी लक्ष्मी वही होती है जिसके गुण होते हैं परम सुख और परम शान्ति। आत्म लक्ष्मी का मुकुट ज्ञान का होता है हृदय दर्शन का तो हाथ और पैर चारित्र्य के । ऐसे आत्म लक्ष्मी का दीप अन्तर्ज्ञान के आलोक से जगमगाता है।

जब मनुष्य को अन्दर की शान्ति का अनुभव होने लगता है तो फिर उसका बाहरी पदार्थो से लगाव हटता है। तब वह अधिक से अधिक आन्तरिक आनन्द मे रमण करना आरम कर देता है। उसका दृष्टिकोण जितना जितना आन्तरिकता से सम्बद्ध होता है उतना-उतना उसका दृष्टिकोण बाहर से विलग होता जाता है। वह अन्दर की अनुभूति का रसास्वादन करता है वही उसका अन्दर को जानना है तथा वही अन्तरात्मा का स्वरूप है।

अन्तरात्मा के इसी स्वरूप में जब अवगहन होने लगता है तो इस जीवन की उपाधिया हट जाती है। इन उपाधियों का तात्पर्य है कि वे विशेषण जो बाह्य पदार्थो के सम्बन्धों की वजह से लगते हैं। जैसे मकान मालिक की उपाधि अमुक सस्था के अध्यक्ष पदाधिकारी आदि। वस्तुत बाह्य सम्पत्ति का स्वामित्त्व भी एक उपाधि ही है। जिसके पीछे चिन्ता का ऐसा क्रम लगता है कि मनुष्य अपनी आन्तरिकता से सम्बन्ध ही नहीं जोड पाता है।

बाहर की सारी उपाधियों को छोडते हुए जब अन्दर मे प्रवेश किया जाता है तो उससे पहले पाचों इन्द्रियों तथा शरीर की उपाधि का भी परित्याग करना होता है क्योकि मूल में ये उपाधियों ही सबसे बडी हैं जिन में आत्मा उलझी रहती है। यदि आन्तरिक जीवन को सर्वथा उपाधि रहित बना लेते हैं तो तब परमानन्द की अनुभूति होने लगती है। वह आनन्दानुभूति तब जीवन मे समग्र रूप से व्याप्त हो जाती है। अतीन्द्रिय गुण भी अखूट होता है। कहते हैं कुबेर का खजाना अखूट होता है *लेकिन कदाचित् वह भी खूट जाय पर अतीन्द्रिय* गुणों का खजाना कभी कभी नहीं खूट सकता है। आत्मा की यह उपलब्धि महान् होती है। यह खजाना तभी मिलता है जब आत्मा का स्वरूप अन्तर्मुखी बन जाता है। अन्तर्मुखी वृत्ति से ही आत्मलक्ष्मी की प्राप्ति होती है तो आत्म दीप का आलोक बिखरता है।

आत्मा की दीपावली एक वर्ग की नही समग्र आत्माआ की

ऐसी आत्मा की दीपावली किसी वर्ग विशेष या व्यक्ति विशेष की नहीं

मानी गई है। वह समग्र आत्माओं की दीपावली होती है उन आत्माओं की जो लक्ष्मी का स्वरूप ग्रहण करती हैं जो ज्ञानालोक से आलोकित हो उठती है। मानवीय शरीर के साथ मानवीय चेतना है तथा उस चेतना के विकास द्वारा सबको अपनी आन्तरिक निधि के उद्घाटन का अधिकार है और जब मनुष्य इस आन्तरिक निधि को आत्म लक्ष्मी को प्राप्त कर लेता है तो समझना चाहिये कि उसने सब कुछ प्राप्य को प्राप्त कर लिया है। यह तथ्य किसी सामान्य व्यक्ति ने प्रकट नहीं किया है बल्कि उन महान् आत्माओं ने जगत् के कल्याण के लिये प्रकट किया है जिसका अनुभव स्वय उन्होंने लिया तथा मनुष्य की तरह ही मानव-देह में रहकर बाह्य उपाधियो का त्याग किया व साधना द्वारा अपनी आन्तरिकता का सर्वोच्च विकास साधा।

आज की वर्ण व्यवस्था की स्थिति तो बिगड गई है। फिर भी वर्ण व्यवस्था की दृष्टि से क्षत्रिय कुल में उत्पन्न होने वाले महावीर प्रभु त्रिशला नन्दन कहलाये। राजकीय वैभव में जिन्होंने जन्म लिया और जिनका जीवन बाहरी उपाधियों से घिरा हुआ था उन्हीं महावीर ने उस सब बाह्य सम्पत्ति का परित्याग किया एव आन्तरिक सम्पत्ति को प्राप्त करने के लिये सचेष्ट बन गये। अन्तरात्मा के स्वरूप को उपलब्ध करने की दृष्टि से वे अनेक स्थानों पर पहुँचें जहाँ अज्ञानी व्यक्तियों ने उन्हें कष्ट दिये। वे उन्हें तटस्थ भाव से सहते हुए अविचलित बने रहे। वे बाहरी कष्टों को अन्तर्ज्योति को प्रज्ज्वलित करने में सहायक मानते थे। बाह्य आधि व्याधि एव उपाधि की उलझनों से बाहर निकल कर उन्होंने अन्तरात्मा में प्रवेश कर लिया एव गहनतम साधना करके ज्ञान निधि की सम्पूर्ण उपलब्धि कर ली। उनकी अन्तरात्मा तब परमात्मा के रूप में परिवर्तित हो गई। वह उनकी आत्म लक्ष्मी की सच्ची दीपावली थी।

परमात्मा रूप बनकर महावीर प्रभु ने उस दीपावली को अपने में ही समेट कर नहीं रखी बल्कि उस ज्ञान के प्रकाश को चारों ओर फैलाना प्रारम कर दिया। जन जीवन को ें बोध देने लगे तथा आत्मदीप जलाने लगे। चरितार्थों की भी उन्होंने स्थापना की। उन्हें ढाई हजार वर्ष से कुछ अधिक समय व्यतीत हुआ है। इस आत्म शौर्य्य के कारण ही उन्हें महावीर कहा गया।

भगवान् महावीर क्षत्रिय कुल के होते हुए भी अपने आत्म-विकास के साथ समग्र विश्व के हो गये। क्योंकि वे अन्तर्दृष्टि के स्वामी हो गये थे। अन्तर्दृष्टि का स्वामी ससार के सम्पूर्ण प्राणियों का हितैषी बन जाता है। अन्तरात्मा के साथ जो पूर्णतया सम्बन्धित बन जाता है उसके लिये फिर बाहरी रूपक बाधक नहीं रहता है। यह ब्राह्मण है यह वैश्य है क्षत्रिय है या शूद्र है– उससे दूर रहना

चाहिये इसके पास जाना चाहिये– ऐसी भावना बहिरात्मा की होती है। यह सब बाहरी ससार का रूपक है जिसको अन्तरात्मा रूला देती है। अन्तरात्मा के स्वरूप की स्थिति से चलने वाले वीर पुरुष आन्तरिकता के विधि-विधान लेकर चलते हैं और वैसे विधिविधान वालों के बीच एकात्मीयता का अनुभव आ जाता है। उनकी एकात्मीयता गुणशीलता पर आधारित होती है। और वास्तव में आत्मा की सच्ची दीपावली गुणशील आत्माओ की दीपावली होती है।

आत्म लक्ष्मी की सम्प्राप्ति
भगवान् महावीर का दिशा निर्देश

गुण और कर्म के आधार पर नई व्यवस्था का दिशा निर्देश देकर भगवान् महावीर ने इस भूमडल पर अनेक प्राणियों को प्रबोध दिया। और तो दूर रहा– स्वय को डसने वाले विषधर चडकोशिक को भी उन्होंने शान्ति धारण करने का उपदेश दिया तथा उसने भी शान्ति धारण करके अमर शान्ति प्राप्त की। महावीर चारों गतियों के प्राणियों को शान्ति पहुँचाने के निमित्त बने तथा उन्होंने आत्म लक्ष्मी की सम्प्राप्ति का जो दिशा निर्देश दिया आत्म विकास की वही शाश्वत दिशा है।

महावीर ने आत्म विकास का जो महामत्र दिया है वह णवकार मत्र है और यह मत्र उनकी विशुद्ध निर्लिप्तता का प्रतीक भी है कि उसमें अथवा अन्यत्र कहीं भी उन्होंने अपने नाम को भी कहीं कोई महत्त्व नहीं दिया। उनकी अन्तर्दृष्टि सदा गुणो के प्रति ही केन्द्रित थी तथा गुणशीलता को ही उन्होंने सम्पूर्ण महत्त्व दिया। उन्होंने 'णमो महावीराण' नही कहलाकर 'णमो अरिहताण' बताया अर्थात्– किसी व्यक्ति विशेष को– चाहे वह कितना ही महान् हो– नमस्कार करना नहीं सिखाया बल्कि बताया कि उनको नमस्कार है और उन सबको नमस्कार है जिन्होंने राग द्वेष काम क्रोध मद मत्सर तृष्णा आदि सभी आत्म शत्रुओं को पराजित कर समूल नष्ट कर दिया है। यह ज्ञात-अज्ञात सभी अरिहतों को नमस्कार है। इस प्रकार भगवान् महावीर ने जो कुछ दिशा निर्देश दिया था वह 'सर्व प्राणीना हिताय सर्व प्राणीना सुखाय' था। उन्होंने वर्ण व्यवस्था को गुण-व्यवस्था में परिवर्तित करने की प्रबल प्रेरणा दी।

दीपावली उन्हीं महावीर स्वामी का निर्वाण दिवस है। उन्होंने अपनी परम आत्मा को प्रखर सूर्य से भी अधिक तेजस्वी बना ली तो इस दिन को लोग प्रकाश–पर्व के रूप में मनाने लगे। वस्तुत आत्म लक्ष्मी की सम्प्राप्ति करने की प्रेरणा देने वाला यह महान् त्यौहार है। यह किसी एक जाति का त्यौहार नहीं

सम्पूर्ण ससार का प्रेरणास्पद त्यौहार है। चारों वर्ण गुण के आधार पर महावीर के भक्त बने। वेदों के प्रकाड पडित तथा महान् ब्राह्मण गौतम स्वामी इनके पट्टधर शिष्य हुए। सुदर्शन सेठ जैसे महान् वैश्य उनके श्रावक थे तो हरिकेशी जैसे महान् शूद्र भी उनके भक्त सन्त बने। जातिवादी भावना को समाप्त करके उन्होंने मनुष्य का मूल्याकन उसके कर्म के आधार पर करने का निर्देश दिया। आत्मा सबमें समान है और जो ऊँच नीचता देखनी है है आत्म स्वरूप के सदर्भ में ही देखनी है तथा उसे भी देखकर घृणा नहीं करनी है बल्कि आत्मा की नीचता को उच्चता में बदलने का सहृदय प्रयास करना है। आत्म लक्ष्मी को प्राप्त करने तथा दूसरो को प्राप्त कराने का यही श्रेयकारी मार्ग उन्होंने बताया।

महावीर का निर्वाण पावापुरी में हुआ जहाँ उनका अन्तिम चातुर्मास था। हस्तिपाल महाराज के स्वप्नों का अर्थ विन्यास भी उन्होंने इसी चातुर्मास में किया।

महावीर की अन्तिम देशना
प्रकाश किरणो से प्रकाश पर्व

महावीर प्रभु चातुर्मास हेतु जब पावापुरी में पधारे तब सबको ज्ञात हो गया था कि यह प्रभु का अन्तिम चातुर्मास है। इसी विचार से गणतत्र के बडे-बडे नेता और गणपति भी पावापुरी में एकत्रित होने लगे। उस समय नौ मल्ल तथा नौ लिच्छवियों ने मिलकर गणराज्य की स्थापना की थी जिसके गणपति चेला अथवा चेटक महाराज थे। महावीर की अन्तिम धर्म देशना श्रवण करने की महान् उत्सुकता सबको लगी हुई थी। आज के ही दिन भगवान् महावीर ने उत्तराध्ययन के रूप में अपनी अन्तिम देशना प्रदान की तथा ससार के समस्त प्राणियों के लिये सार भूत तत्त्व उपलब्ध कराया। उन्होने इस दिन जो प्रकाश किरणें प्रसारित की उन्हीं प्रकाश किरणों से दीपावली के प्रकाश पर्व का आयोजन आरभ हुआ।

आज वही दीपावली का दिन है। आप में से कई लोग चाहते होंगे कि आज माल मिठाइयाँ खाने को मिले बढिया-बढिया वस्त्र पहिनें तथा घूमें फिरें। यह भी सोचते होंगे कि आज लक्ष्मी का पूजन करना है तथा दीपक जलाने हैं। इस प्रकार सोचने वालों ने अभी तक दीपावली का वास्तविक प्रयोजन नहीं समझा है। वे लकीर के फकीर की तरह चल रहे हैं लेकिन दीपावली के यथार्थ अर्थ से बहुत दूर हैं। यह बहिरात्मा का लक्षण है जो जड लक्ष्मी के पूजन तथा मिट्टी के दीपक जलाने की उत्सुकता रखती है। इस दिन तो महावीर ने अपनी

अन्तिम देशना देकर अन्तरात्मा का आह्वान किया था जिसका अभिप्राय था कि आत्म-लक्ष्मी का पूजन करो।

आत्म लक्ष्मी का पूजन कैसे होगा ? क्या शरीर के सुखों में लिप्त होने और रगरेलियाँ मनाने से ? वह पूजन शरीर सुखों से दूर होने पर हो सकेगा। यह दिन शरीर की वृत्तियों को सुखाने का है– उपवास और पौषध व्रत रखने का है ताकि जीवन का लक्ष्य इस शरीर सुख से दूर हट कर आत्म विकास की ओर मुड़े। आत्म विकास तभी होगा जब आत्मा को समझेंगे और आत्मा को समझकर उसका अनुशासन सारे जीवन पर लागू करेंगे– यही आत्म लक्ष्मी का पूजन है। आज के दिन मिट्टी के दीपक जला कर क्या सन्तोष करते हैं ? वीर निर्वाण का यह दिन ज्ञान के दीपक जलाने का है। ज्ञान के प्रकाश से ही आत्म स्वरूप प्रकाशमान बनता है। आन्तरिक प्रकाश की किरणों के साथ ही इस प्रकाश पर्व को मनाना चाहिये।

आत्मा की दीपावली तभी मन सकती है जब जीवन की वृत्तियों और प्रवृत्तियों में प्रकाश का समावेश होने लगे। यह प्रकाश जब अन्तकरण में समाविष्ट हो जाता है उसका प्रभाव बाहर के व्यवहार में भी स्पष्ट परिलक्षित होने लगता है। ब्यावर का खमेसरा परिवार व्यापार कार्य के निमित्त देश के विभिन्न भागों में कार्यरत है लेकिन दीपावली के अवसर पर अपने सारे परिवार के सदस्यों के साथ वे मेरे सान्निध्य में आ जाते हैं और धर्म साधना करते हैं । ऐसा आदर्श सभी को निभाना चाहिये क्योंकि यह प्रकाश पर्व भगवान् की अन्तिम देशना को सुनकर उसको हृदयगम करने का तथा अपने जीवन को श्रेष्ठ बनाने का है।

अन्तरात्मा की साधना
परमात्म पद की सिद्धि

भगवान् महावीर जिस समय पावापुरी में विराज रहे थे तथा उनकी अन्तिम देशना चल रही थी उस समय स्वाभाविक तौर से दो रोज का तप हो गया था। उनकी अन्तरात्मा की साधना सम्पूर्ण हुई तथा परमात्म पद की सिद्धि उन्हें मिली तो उनके साधक अनुयायी भी अन्तरात्मा की साधना में निमग्न हो गये।

अपने साधक जीवन में महावीर ने विभिन्न क्षेत्रों में विचरण करके चतुर्विध सघ की स्थापना की थी जो आध्यात्मिक साधना का एक अनुशासनवद्ध सघ बन चुका था। भगवान् ने सोचा कि जो उपदेश मैंने दिये हैं उनके अनुरूप

आत्म शक्तियो की ऋद्धि आत्म लक्ष्मी के पूजन से

दीपावली के प्रति मानव का मुख्य उद्देश्य आत्म लक्ष्मी को वरण करना होना चाहिये। वह कब आ सकती है ? वह तभी आ सकती है जब व्यक्ति अन्तर्मुखी बनकर आत्म शक्तियों को जागृत बनावें ताकि एक दिन उन्हें प्राप्त करके आत्म-ऋद्धि से सम्पन्न बन सके। अगली रात्रि को यदि आपने आत्म-लक्ष्मी का पूजन नहीं किया हो तो इस रात्रि में भी कर सकते हैं। अब आप जाप कैसे करेंगे ? पहले तो कहा था– महावीर स्वामी केवलज्ञानी गौतम स्वामी चौज्ञानी और अब यह कहना होगा– महावीर स्वामी पहुँचे निर्वाण गौतम स्वामी को हुआ केवलज्ञान। इस जाप के साथ परमात्म-स्वरूप मानस पर अकित होना चाहिये क्योंकि उस स्वरूप दर्शन से ही बहिरात्मा को अन्तरात्मा बनने की प्रेरणा मिलती है। अन्तरात्मा की स्थिति में पहुँचने के बाद ही आत्म लक्ष्मी का पूजन समव बनता है।

आत्म लक्ष्मी का पूजन सामान्य नहीं होता है। जड़ लक्ष्मी को आप पूजते हैं तो क्या करते हैं ? लक्ष्मी का चित्र ले आते होंगे और कुछ मिठाई फल रखकर परम्परा के अनुसार पूजन कर लेते होंगे। उसका कोई महत्त्व नहीं है। आप जड़ लक्ष्मी से मागनी करते हैं कि आपको धन सम्पत्ति मिले। मागनी करने वाली आत्मा ऊँची नहीं कहलाती है क्योंकि यह आत्मा स्वय अपनी शक्तियों से ऋद्धिशाली है और वह मागनी करती फिरे– यह क्या शोभाजनक है ? आत्म लक्ष्मी कहीं बाहर नहीं है भीतर है– उसी को जगाना है उसी को पूजना है उसी को निर्मल बनाना है ताकि उस साधना से जो सिद्धि मिलेगी वह अमूल्य होगी।

यह त्यौहार आध्यात्मिक लक्ष्मी के आह्वान का त्यौहार है। बाहर के *आडम्बर का त्यौहार इसे नहीं बनायें। आत्म लक्ष्मी का ध्यान धरिये तथा* आन्तरिक शुद्धि की ओर आगे बढिये ताकि आत्मिक शक्तियों के रूप में अमूल्य ऋद्धि प्राप्त हो सके। परमात्म स्वरूप का जब यह आत्मा वरण करेगी तो आत्म दीप दीप्तिमान हो उठेगा। तब आत्मा ज्योति में ज्योति के समान स्थित हो जायगी।

नोखा
२२ १० ७६

□□□

15

विविध रूपिणी बुद्धि की एकरूपता

श्री सुपार्श्व जिन वदिए
सुख सम्पत्ति नो हेत–ललना

श्री सुपार्श्व जिनेश्वर को कवि ने अपनी प्रार्थना में वन्दन करने का सम्बोधन दिया है लेकिन सम्बोधन किस को दिया है ? ललना को। तो क्या उनका सम्बोधन स्त्री समाज को ही है और पुरुष समाज को नहीं ? ज्ञानीजन तो सबको समभावना से ही उपदेश देते हैं तो कवि ने सन्त परम्परा को छोडकर केवल स्त्री समाज को ही सम्बोधित क्यो किया है ? कवि ने वस्तुत परम्परा छोडी नहीं है। ललना प्रतीकात्मक रूप से बुद्धि को कहा गया है और बुद्धि प्रत्येक आत्मा के गुण-रूप में सबके पास विद्यमान रहती है। बुद्धि को ही इस प्रार्थना में ललना कहा गया है।

यह बुद्धि ही है जो विविध प्रकार के विचारों को ही पैदा नहीं करती लेकिन उन विचारों के माध्यम से विविध प्रकार के कार्यो की भी कारणभूत होती है। सासारिकता में जब डूबी रहती है तो यह बुद्धि विविधरूपिणी होती है– कब किस रूप में चल रही है तो कब उस रूप को बदल कर दूसरे रूप में चली जाती है– इसका कुछ पता ही नहीं लगता है।

इस विविधरूपिणी बुद्धि में ही एकरूपता लाने का प्रश्न है। वह विपरीत दिशाओं में नहीं भटके बल्कि एक दिशा में प्रगति करे– यह वाछनीय है। इसके लिये कवि की इस बुद्धि को चेतावनी है कि वह सच्ची सुख सम्पत्ति के कारण की तरफ मुडे और उसके कारणभूत है श्री सुपार्श्व जिनेश्वर– अत उन्हें वन्दन करने का सम्बोधन दिया गया है। श्री सुपार्श्व भगवान् को नमस्कार यदि यह बुद्धि आन्तरिकता के साथ कर लेती है तो वह सच्ची आत्मिक सम्पत्ति की उपलब्धि भी कर सकती है।

बुद्धि चेतन का गुण उसकी सार्वभौम शक्ति

किसी भी आत्मा का शरीर किसी भी रूप में रहे लेकिन शरीर के भीतर रहने वाली प्रत्येक आत्मा का जो कुछ भी व्यवहार है वह इस बुद्धि की शक्ति के माध्यम से ही होता है। बुद्धि मूल में चेतन का गुण है अत चेतन के साथ इसकी सम्बद्धता रहती है। चेतन के साथ सम्बन्धित होने के कारण बुद्धि की शक्ति सार्वभौम तथा सार्वजनीन होती है।

बुद्धि की यह शक्ति प्रत्येक प्राणधारी में रहती है– चाहे वह प्राणी मनुष्य के रूप में है देव या नारकीय की स्थिति में है अथवा पशुपक्षी की योनि में है। एकेन्द्रिय प्राणी भी बुद्धि की शक्ति का चमत्कार अपनी दृष्टि से ले पाता है। वनस्पति के पौधे को देखकर सहसा कोई कल्पना नहीं कर सकता कि इसमें भी क्या आत्मा है ? वैज्ञानिकों ने तो बहुत बाद में सिद्ध किया कि वनस्पति में भी प्राण होते हैं लेकिन तीर्थकर देवों ने बहुत पहले ही बता दिया था कि वनस्पति में आत्मा है– एक नहीं अनेक हैं। निगोद आत्मा का बारीकी से विश्लेषण करते हुए कहा गया है कि इस निगोद के एक शरीर में अनन्त आत्माओं का निवास होता है। इसको समझाने के लिये शास्त्रकारों ने रूपक दिया है जिससे अनन्त आत्मा के स्वरूप का ध्यान बैठ सकता है। प्याज का एक छिलका लिया जाय वह भी सुई की नोक पर आये उतना सा। उस छिलके की भी परतें उतारी जायगी तो कई परतें उतर जायगी। उन सब परतों को एक तरफ रखकर केवल एक परत ले लें तो उसमें असख्य श्रेणियाँ कही गई हैं। एक-एक श्रेणी में अनन्त आत्माओं की स्थिति का उल्लेख है। इस तरह एक निगोद में अनन्त जीव होते है। आत्माओं का अस्तित्त्व अलग-अलग होता है लेकिन शरीर सिर्फ एक ही होता है। इन जीवों में भी बुद्धि का अस्तित्त्व बताया गया है। ये भी आहार आदि की दृष्टि से सज्ञावान होते हैं।

बुद्धि की शक्ति सब प्राणियों के साथ होती है लेकिन उसकी न्यूनाधिकता का बड़ा अन्तर रहता है। वे अपनी बुद्धि से कितना क्या करते है तथा अपनी बुद्धि से कितना क्या ग्रहण कर सकते हैं– इसमें भी भारी अन्तर होता है। छोटे प्राणियों मे ग्रहण शक्ति नहीं के बराबर होती है। फिर ज्यों-ज्यों प्राणी वर्ग में इन्द्रियों की अधिकाधिक शक्तियाँ होती है तदनुसार बुद्धि का क्षेत्र भी बढता जाता है। दो इन्द्रियों वाले जन्तु से पाच इन्द्रियों वाला पशु अधिक समझदार होगा ही। बुद्धि के द्वारा ग्रहण करना तथा अपने कार्य के लिये बुद्धि का प्रयोग

करना– यह क्षमता सर्वाधिक उन्नत प्राणी मनुष्य में सर्वोच्च रूप से होती है। बुद्धि विकास जीव विकास के क्रम पर आधारित होता है।

मनुष्यों में भी सभी मनुष्यो की बुद्धि-शक्ति समान नहीं होती है। सबकी बुद्धि में न तो एक सी क्षमता होती है और न ही एक सी ग्रहण शक्ति अथवा प्रयोग शक्ति । प्रत्येक मनुष्य का अपनी बुद्धि-शक्ति का माप तौल भी भिन्न-भिन्न होता है। कई मनुष्यों के सामने एक बात कहें तो वे सभी व्यक्तिगत रूप से उस बात को अलग-अलग रूप में पकडेंगे ? बौद्धिक विकास की दृष्टि से जिसकी चेतना अधिक जागृत है अथवा विकसित है वह मनुष्य किसी बात को जल्दी और स्पष्टता से ग्रहण कर लेता है। लेकिन यह विकास जितना अल्प होगा ग्रहण शक्ति भी उसी रूप में मन्द रहेगी। इसलिये कवि ने भी बुद्धि ही को सम्बोधित किया है कि वह परमात्मा को वन्दन करे क्योंकि बुद्धि को इस हेतु सजग कर देंगे तो कार्य भी अवश्य बन जायगा।

बुद्धि की बेलगाम सक्रियता और मनुष्य का भटकाव

इस सभा में उपस्थित सभी भाई बहिनों में भी बुद्धि है इसी कारण 'ललना' को सम्बोधित किया गया है। आप सोचिये कि कवि की भावना के अनुसार आप भी अपनी 'ललना' को किस प्रकार सम्बोधित करेंगे तथा उसे किस दिशा में सक्रिय बनावेंगे ?

मनुष्य जीवन की उच्चता का यह भी प्रधान कारण है कि वह बुद्धिशाली प्राणी है। बुद्धि ही के कारण उसकी वैचारिकता एव उसकी क्रियाशीलता है। बुद्धि के साथ ही उसकी दौड़ भाग है और उसका करना धरना है। बुद्धि की सक्रियता भी दो प्रकार की होती है– सोद्देश्य एव निरुद्देश्य। बिना किसी अभिप्राय के बुद्धि का चालन मूर्खता या असावधानी की परिभाषा में ही आयगा । जो भी कार्य हो उद्देश्य के लिये होना चाहिये तो बुद्धि का चालन भी सोद्देश्य ही होना चाहिये। अब उद्देश्य भी दो प्रकार के हो सकते हैं–एक तो बाह्य उद्देश्य तथा दूसरा आन्तरिक उद्देश्य। बाह्य उद्देश्य पौद्गलिक होता है– सासारिक सुखों के पीछे भगाने वाला होता है। दूसरा उद्देश्य आन्तरिक और आध्यात्मिक होता है जिसका अनुसरण करके आत्म विकास की ऊँचाइयों नापी जा सकती है।

बुद्धि का प्रयोग दोनों उद्देश्यों के लिये किया जा सकता है। जिस उद्देश्य

का बुद्धि अनुसरण करेगी उसकी उपलब्धि में ही वह मनुष्य को सक्रिय बनायगी। बुद्धि की सक्रियता यदि ज्ञान युक्त होती है तो वह सोद्देश्य और आत्म नियत्रित दोनों होती है। लेकिन बुद्धि की सक्रियता बाह्य पदार्थो में लगादी गई तो उसकी सक्रियता निरूद्देश्य भी हो सकती है और अनियत्रित भी । यह बुद्धि की बेलगाम सक्रियता मनुष्य को भटकाव के भवर में फसा देती है।

सासारिकता में लिप्त मनुष्य की बुद्धि में यह भावना जागती है कि अपने शरीर को सुख देना है और अपने परिवार का पालन पोषण करना है सो धन की आवश्यकता है तब वह अन्य सारे काम छोड कर पैसा कमाने के पीछे भागता है। पहले नीति से कमाना चाहता है– पूर्ति नहीं होती है तो अनीति को भी अपना लेता है। अपनी जन्मभूमि में पैसा कमाता है उससे पूरा नहीं पड़ता है तो परदेश में भी कमाने के लिये जाता है। नोखामडी के सभी निवासी क्या यहीं पर व्यापार धधा करते हैं ? इनमें से कई परदेश जाते हैं। परदेश उनको कौन ले जाता है ? दीखता यही है कि उनका शरीर ले जाता है लेकिन उस शरीर का सचालन भी किसके द्वारा होता है ? मूल में यही बुद्धि है जो मनुष्य को किसी भी कार्य के लिये क्रियाशील बनाती है।

यही बुद्धि होती है जो मनुष्य को लोभ तृष्णा और ममता में इस तरह उलझा देती है कि उसे उस दलदल से बाहर निकलने का कोर किनारा तक नहीं दिखाई देता। कहते हैं कि तब बुद्धि भी काम नहीं देती। बुद्धि में जब तृष्णा समा जाती है तो बुद्धि भी पागल हो जाती है और वह मनुष्य को पागल बना देती है। गहराई से इस बारे में चिन्तन किया जाय तो नोखामडी का निवासी नोखामडी में रह कर भी अपना पेट तो भर सकता है लेकिन पेटी नहीं भर सकता है। पेट भरना सन्तोष का प्रतीक है तो पेटी भरना तृष्णा का प्रतीक है। तृष्णा की पूर्ति कभी नहीं होती। ऐसी तृष्णा के पीछे बुद्धि को लगा देते हैं तो उसमें मनुष्य को भटकाव के सिवाय क्या मिल सकता है ?

बहुरूपिणी बुद्धि को एकरूपता मे ढालिये ।

ये नाना रूप धर कर बुद्धि जो ससार के मरूस्थल में मृगतृष्णा की तरह दौड़ती है उस के नाना रूपों को समेटिये क्योंकि इस बहुरूपिणी बुद्धि ने मनुष्य को भटकाव के जगल में डाल दिया है। वह पथभ्रष्ट है। उसको कहीं पहुँचना है तो उसका मार्ग पकड़ना जरूरी है। इधर-उधर दिशाहीन होकर भटकना छोड

कर वह लक्ष्य निर्धारित करके उस पर पहुँचने का मार्ग पकड़ ले तो उसकी बहुरूपिणी बुद्धि एकरूपता में ढल जायगी क्योकि तब एक लक्ष्य और एक मार्ग ही उसके सामने रहेगा।

धन कमाने की ही बात को लीजिये । बुद्धि इस काम के लिये भी अगर सही दिशा में चलेगी तो धन कमाने में भी नैतिकता का ध्यान रखा जायगा तथा उसका व्यय भी हार्दिकता के साथ शुभ कार्यो के लिये होगा। इसी काम में बुद्धि ने अगर गलत दिशा पकड़ली तो वह भयकर अपराधो और घोर कुकर्मो में भी फस सकती है। इसलिये बुद्धि को इस एकरूपता में ढालिये कि सासारिकता भी धार्मिकता से जुडी हुई रहे। अर्थोपार्जन के समय भी यह सोचना चाहिये कि कमाई नीति के साथ हो रही है या अनीति के साथ ? क्या आप ऐसा सोचते हैं ? क्या सिर्फ धार्मिकता दिखाते ही हैं अथवा उसको बुद्धि के साथ भी जोड कर रखते हैं ? यदि नीति की बात नहीं सोचते हैं तो यह जीवन कितना अधिक पतित हो सकता है– इसकी कल्पना भी नहीं कर सकते हैं। क्या पैसा कमाना ही सिर्फ काम हैं ? यदि धर्म के साथ कमाई नहीं की तो जीवन शून्य रह जायगा।

बुद्धि की एकरूपता इस दृष्टि से अत्यावश्यक है कि जीवन एक दिशा में चले। सद्बुद्धि ही दिशानिष्ठ होती है क्योंकि वह स्थिर होती है। बुद्धि ही मूल कारण होती है मनुष्य की गतिशीलता की तो बुद्धि ही उसको दिशा निर्देश भी करती है। धर्म को समझने वाली भी बुद्धि ही होती है। सारी भौतिक परिस्थितियॉ भी बुद्धि के माध्यम से बनती है तो विज्ञान की उन्नति में भी बुद्धि का ही योग होता है। बुद्धि का कार्य क्षेत्र विशाल और व्यापक है किन्तु उस विशालता में उसको भटकने नहीं देना है– उसको दिशाहीन एव मार्गहीन नहीं बनने देना है और इसी कारण से उसको एकरूपता में ढालना है। कवि ने इसी बुद्धि को ललना के नाम से सम्बोधन दिया है कि यदि तुझे अलौकिक सुख सम्पत्ति की चाह है तो सुपार्श्व जिनेश्वर को वन्दन कर। परमात्म स्वरूप की दिशा में बुद्धि को लगा देंगे तो इसकी बहुरूपिणी अवस्था समाप्त हो जायगी तथा यह एक लक्ष्य के प्रति एकरूप बन जायगी।

बुद्धि विकास का कार्य– हीरे की तरह उसको तरासना

एक चमकते पत्थर के टुकडे की तरह बुद्धि भी अनगढ होती है। जैसे

उस पत्थर को तरास कर उसको हीरे का सुन्दर और मनभावन रूप दे दिया जाता है वैसे ही बुद्धि को गढ़ना तरासना और सद् रूप देना होता है। बुद्धि विकास का कार्य होता है कि वह श्रेष्ठ दिशा में गतिशील बने एकरूप हो तथा अपनी सुदृढ़ ग्रहण एव प्रयोग शक्ति के द्वारा लक्ष्य को प्राप्त करके ही विश्राम ले।

मैं जब भी जरा सी तात्त्विक बात आपको समझाना चाहता हूँ और सरलता से समझाता हूँ, फिर भी ऐसा लगता है जैसे आपकी बुद्धि पर वजन गिर रहा हो। बुद्धि पर वजन मत गिरने दीजिये और उसकी ग्रहण शक्ति बढाकर उसका समुचित विकास कीजिये। इस बुद्धि का विकास करने के लिये ज्ञान पचमी की आराधना की जाती है। आज ज्ञान पचमी है और इस दृष्टि से कई भाई-बहिन उपवास रख कर धर्म साधना में भी बैठे हैं। उनसे पूछू कि आज किस बात का उपवास है तो कहेंगे कि ज्ञान पचमी का उपवास है। उपवास जरूर करें लेकिन ज्ञान पचमी के निमित्त से सर्वप्रथम ज्ञान की आराधना तो करें। *ज्ञान की आराधना क्या होगी ? यही कि आप सबसे पहले ज्ञान का वहन* करने वाली बुद्धि के स्वरूप को सशोधित सुन्दर एव श्रेयकारी बनावें।

ज्ञान की आराधना अथवा बुद्धि की आराधना एक ही बात है। जितना बुद्धि का विकास होता है और वह स्वस्थ दिशा में अग्रसर बनता है उतना ही ज्ञान का स्वरूप आत्मोन्मुखी रहता है। ज्ञान की सही उपासना और बुद्धि का सही विकास होता है तो ज्ञानावरणीय कर्म का भी क्षयोपशम होता है। जितना यह कर्म बन्धन ढीला होता है उतनी ही ज्ञान की साधना परिपक्व बनती जाती है। जो ज्ञान साधना के बाधक बनते हैं और फिर भी कहते हैं कि वे ज्ञान पचमी का उजमना कर रहे हैं तो वह उजमना तो होगा नहीं लेकिन ज्ञानावरणीय कर्मो का अलग से बध हो जायगा। यह जानकारी करनी चाहिये कि ज्ञान की उपासना सार्थक क्यों नहीं होती है तथा बुद्धि का सम्यक विकास असफल क्यों हो जाता है ?

बुद्धि विकास के कार्य और उसके अवरोधों की जानकारी कर्मवाद के सिद्धान्त से हो सकेगी। उस से यह ज्ञात हो जायगा कि ज्ञानावरणीय कर्म बधन के क्या-क्या कारण होते हैं और उनको तोडने के क्या-क्या उपाय हैं ? यदि उन कारणों को जान लें तो उन्हें अपने साथ घटित न होने दें तथा उपायों की जानकारी लेकर उन पर अमल करें तो अवरोधों की समाप्ति हो सकती है। जितनी अशों में अवरोधों की समाप्ति होगी उतने ही अशों में बुद्धि का सम्यक विकास सम्पादित हो जायगा तथा ज्ञान की साधना सफल बन जायगी। ज्ञानावरणीय कर्मो का उसी तरह क्षय करना होता है जिस तरह हीरे की गढाई

करते वेंक उसक ऊपर क मा । पन-इस-सरह- - -
का सुन्दर आकार ग्रहण करले। कर्म क्षय से ज्ञान अ
रूप निखर आता है।

अन्तरा

कई भाई बहिन ज्ञान पचमी की आराधना कर
केवल उपवास और पौषध करके ही रह जाते हैं–
चिन्तन मनन नहीं करते तो उन्हें सफलता नहीं मिलत
होता है-- ज्ञान में अभिवृद्धि करना तथा बुद्धि को शुभ
इस लक्ष्य की तरफ गति पहले होनी चाहिये। उसके
सोने में सुगध का काम करेगी। जो आत्माएँ साधना
पकड लेती हैं वे अन्तरात्मा का स्वरूप ग्रहण कर लेत
स्थापित कर लेती है। आत्मानुशासन में चलने वाली
आत्मविकास के पथ पर ही अग्रगामी बनती है।

बुद्धि की गतिशीलता पर नियत्रण या अनुश
लेकिन कोई भी अविवेकपूर्ण नियन्त्रण या अनुशासन बु
बिगाड़ेगा। केवल आत्मा का ही अनुशासन बुद्धि क
क्योंकि बुद्धि स्वय चैतन्य आत्मा का गुण होती है अ
श्रेष्ठतम उपयोग ले सकता है। इस दृष्टि से विवेकशी
को अपने अनुशासन में ले लेती है तो वह उस बुद्धि
एव लोक कल्याण के कार्यो को ही सम्पादित करवा

आत्मा के अनुशासन में बुद्धि को जो मार्ग पक
धर्म का मार्ग। इस ससार मे धर्म ही गुण रूप में दृ
गुणी रूप आत्मा की वृत्तियों एव प्रवृत्तियों के साथ ही
का तादात्म्य स्वरूप है– उनका सम्बन्ध अभिन्न होत
को अपने गुण धर्म की ओर प्रवृत्त बनाने में बुद्धि का
बल्कि बुद्धि की ही सम्यक गतिशीलता से इन गुण-
साथ-साथ घनिष्ठ भी बना रहता है। जैसे सूर्य और
होता है वैसे गुणी और गुण का परस्पर अभिन्न सम्बन्ध
में से किरणें हट जाय तो सूर्य-सूर्य रूप ही न